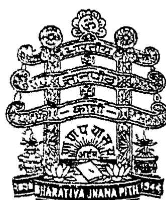
ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला हिन्दी ग्रन्थाङ्क—२९

हिन्दू विवाह
में
कन्यादानका स्थान

सम्पूर्णानन्द



भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

संशोधित द्वितीय संस्करण
१९५६
मूल्य एक रुपया

मुद्रक
विद्यामन्दिर प्रेस
मानमन्दिर, बनारस

विषय-सूची

हमारा यह प्रकाशन

विद्वद्वर श्री सम्पूर्णानन्दजीकी यह नवीनतम कृति इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे अपने विषयकी 'क्रान्तिकारी' रचना कहा जा सकता है। साधारणतया पुस्तकका शीर्षक देखकर पाठक सोचेंगे . "अच्छा, 'कन्यादान'के विषयमे है यह किताब ! हाँ, कन्यादान तो हिन्दू विवाहका प्राण ही है। उसीकी महत्ता विद्वान् लेखकने प्रमाणित की होगी।" पर, वास्तवमें पुस्तकका अध्ययन पाठकोको चौकायेगा और यह सोचनेके लिए मजबूर करेगा कि 'कन्यादान' जैसी भ्रामक शब्द-योजना हम शताब्दियोसे आजतक क्यो वहन करते चले आये है ? सक्षेपमे यह, कि कन्यादानसे न किसी 'स्वत्व'का सर्जन होता है, न विसर्जन, न हस्तान्तरण। न ही कन्या कोई चल या अचल 'सम्पत्ति' है कि उसका 'दान' किया जाये। कन्यादान तो एक वैधानिक अलीक (Legal fiction) है।

विवेचन शास्त्रीय होते हुए भी, इसकी पार्श्वभूमि विस्तृत है और दृष्टिकोण व्यापक। पुस्तक विदेशीय तथा भारतीय संस्कृतिमे स्त्रियोंकी सामाजिक अवस्थाके सक्षिप्त क्रमिक विकासकी झाँकी देती है। भारतीय दर्शन और संस्कृतिके प्रति अपनी अविचल श्रद्धाके बावजूद भी, मान्य लेखकने प्राय· प्रत्येक प्रासगिक उद्धरण या मान्यताको तर्ककी कसौटीपर कसा है और सतुलित दृष्टिकोण उपस्थित करनेकी चेष्टा की है। जहाँ इसमें वेदवर्णित '**सम्राज्ञी श्वशुरे भव**' का उल्लेख है वहाँ वाल्मीकि रचित राम-वाक्य "**न त्वदर्थं मया कृत.**" [हे सीता ! यह युद्ध मैने तुम्हारे लिए नही किया] का भी। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य आदिकी अनेक ऐसी व्यवस्थाओका भी उल्लेख है जिनसे कई स्थानों पर दुविधा उत्पन्न हो जाती है। इन दुविधाओका परिहार यहाँ मिलेगा।

पुस्तक देखनेमे छोटी है, पर इसके पीछे ओजस्वी लेखककी दीर्घ ऊहापोह और लगभग ४० ग्रन्थोका सदर्भ-श्रम है ।

पुस्तकके निष्कर्षके विषयमें सभी एकमत हो, यह तो आशा नही की जा सकती, क्योकि प्रश्नसे प्रश्न उठते ही हैं—और ऐसे विषयपर अनेक शास्त्रोके अनेक प्रमाण तथा अनेक युगोकी अनेक विपरीत घटनाएँ मिलती है जिनका संकेत स्वय लेखकने कर दिया है—किन्तु यह निश्चित है कि पुस्तक विचारोको उत्तेजना देगी और हमे उस विचार-परम्परासे उन्मुक्त करेगी जो युगके अनुकूल नही, और जो अपनी प्राचीन विकसित सस्कृतिके भी अनुकूल नही ।

ज्ञानपीठकी ओरसे हम मान्य सम्पूर्णानन्दजीके आभारी हैं कि उन्होने इस रचनाके प्रकाशनका श्रेय हमे दिया । ज्ञानपीठके सस्थापक श्रीयुत साहू शान्तिप्रसाद जैनके प्रति भी हम कृतज्ञ है कि उन्होने विद्वान् लेखकसे सास्कृतिक चर्चाके प्रसंगमे इस रचनाका पता पाकर, हमारे लिए यह उपलब्ध कर दी ।

पुस्तकमें जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है, उसके प्रति अन्य विद्वानोकी प्रतिक्रियाका परिचय पाकर हमे प्रसन्नता होगी ।

लखनऊ,
२५ फ़रवरी १९५४

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक
लोकोदय ग्रन्थमाला

भूमिका

आजसे पचीस वर्ष पहिलेकी बात है। मेरी लड़कीका विवाह हुआ था, विवाहमे कन्यादान भी हुआ। उस अवसरपर श्री ब्रजबिहारी राय एम० ए०, एल-एल० बी० ने, जो इस समय कौंसिल आव स्टेट्सके सदस्य है, मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि कन्यादानमे उदात्त भावोकी अभिव्यक्ति नही होती। मैने दो एक पुस्तके देखी और दैनिक आजमें इस सम्बन्धमे एक लेख भी लिखा। बात प्राय वहीं समाप्त हो गई।

परन्तु यदा कदा एतद्विषयक विचार उठते रहे। सार्वजनिक कामोने जमकर अध्ययन करनेका अवकाश नही दिया परन्तु उधरसे ध्यान हटा नही। मैं अब इस कामको पूरा कर पाया हूँ। मैंने यह प्रयत्न किया है कि किसी पक्षके साथ अन्याय न हो। यदि मेरे अभिमत सिद्धान्तके विरुद्ध कोई प्रमाण मिला है तो मैंने उसे जानबूझकर नही छोडा है और न कही मूलके अर्थको तोड़ने मरोड़नेका यत्न किया गया है।

एक अपराध स्वीकार करता हूँ। मुझे भारतीय दर्शनमे अविचल श्रद्धा है। मेरा ऐसा विश्वास है कि दर्शन केवल चित्तविलासकी सामग्री नही है वरन् मानव जीवनको उत्कृष्ट बनानेका श्रेष्ठतम साधन है। मेरी ऐसी निष्ठा है कि प्राचीन आचार्य्योंने—ऋषियो, मनुओं, पथिकृत पूर्वजों-ने—जीवनके सभी अंगोंको आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत बनानेका यत्न किया था, प्रत्येक मनुष्यके जीवनको व्यावहारिक वेदान्तका चल प्रवन्ध काव्य बनाना चाहा था। उनका उद्देश्य यह था कि पदे पदे उस एकताकी अनुभूति होती रहे जो जगत्के नानात्वका धरातल है। जब मैं कही इस आदर्शसे स्खलन देखता हूँ, स्वार्थको सिर उठाते देखता हूँ, तो मुझे सहज चिढ़ होती है। और मेरा अबतकका अध्ययन यह बतलाता

है कि उस प्राचीन पथसे हम पिछले सहस्र वर्षोमें ही अधिकतर हटे है। विदेशी शासनने हमारी बुद्धि कुण्ठित कर दी, हमारी आध्यात्मिक चेतना-को मद बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जहाँ शुद्ध सोना था वहाँ बहुत सी मिट्टी आ गई, पुरानी बातोके साथ प्रक्षिप्त सामग्री मिल गई। पुराने रूपको पहिचानना कठिन हो गया।

विवाह मनुष्यके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम है और यह सर्वथा उचित है कि धर्म्मगुरु और शासन उसकी ओर पूरा-पूरा ध्यान दें। विवाहके ठीक ठीक सम्पन्न होनेपर, विवाहजनित कर्तव्योंको यथार्थ रूपसे समझ लेने पर, केवल पति-पत्नीका सुख सौभाग्य निर्भर नही होता। कई पीढियो तक उनकी सन्तान और अन्ततोगत्वा समूचे समाजका हिताहित इसके साथ अनुबद्ध है। विवाहमे केवल वर-कन्याको सामने नही रखना है, अजात सन्तति और उस समाजको भी सामने रखना है जिसके वह नागरिक हैं। स्त्री-पुरुष तो यो भी साथ रह सकते है, आजकल उनके मिलकर रहने और इस सहवाससे उत्पन्न सन्तानको वैध बनानेके उपाय निकलते ही रहते है, परन्तु विवाह इससे ऊँची और व्यापक वस्तु है। कमसे कम आर्य्य विचारकोंने ऐसा ही माना था। वह ससारी समझौता नही वैदिक सस्कार है, देवोको साक्षी बनाकर सम्पन्न पवित्र कृत्य है। उसको फिर प्राचीन रूप देकर दाम्पत्यको सुखी और उदात्त और जीवनको अर्थगर्भ बनाना है।

आज जिस प्रकार कन्यादान होता है उससे उसका वास्तविक उद्देश्य छिप गया है और उसके महत्त्वपर पर्दा पड़ गया है। उस रूप और उस उद्देश्यको फिर जनसाधारणके सामने लाना आवश्यक है।

लखनऊ
भाद्र कृष्ण १, २००८

—सम्पूर्णानन्द

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

पुस्तकके प्रथम सस्करणका समाप्त होना इस बातका प्रमाण है कि कुछ लोगोने उसको पढा। जिन लोगोने पढा होगा निश्चय ही उनके विचारोमे कुछ उथलपुथल मचा होगा। कन्यादान जैसी प्रचलित प्रथाको अशास्त्रीय माननेके लिए बुद्धि सहसा तैयार नही हो सकती। जो प्रथा सैकडो वर्षोसे चली आ रही है, जिसके सिलसिलेमे संस्कृतके लम्बे मन्त्र पढे जाते है, वह शास्त्र विरुद्ध है ऐसा जल्दी विश्वास नही होता परन्तु मैने जिन प्रमाणोको उपस्थित किया है उनका ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। सामाजिक बातोमे परिवर्तन एक साथ नही हुआ करते। कम-से-कम प्राचीन कालमे तो आजकी व्यवस्थापिका सभाओ जैसी सस्थाएँ नही थी जिनके द्वारा बात की बातमे नये विधानोको बनाकर पुरानी प्रथाएँ समाप्त कर दी जायें। उस समय तो जो भी परिवर्तन होता था वह धीरे धीरे ही कालगतिके अनुसार होता था। किसी पुराने कानूनको बदलनेका प्रश्न नही उठता था। नयी टीकाएँ बनती थी जो पुराने श्रौत और स्मार्त वाक्यो की नयी व्याख्या कर देती थी। इतनेसे ही काम चल जाता था। कुछ थोड़ी सी विशेष अवस्थाओमे नयी स्मृतियोकी भी रचना करनी पडती थी। सिध पर अरब आक्रमणके बाद देवल स्मृतिकी रचना इसका स्पष्ट प्रमाण है। नयी टीकाओ और नयी स्मृतियोमे एक बातका पूरा लिहाज रक्खा जाता था। वह यह कि नवीनता और प्राचीनताके बीचमे गहरी खाई न बन जाय, नवीन पद्धतिपर प्राचीन शैलीकी गहरी छाप बनी रहे। भारतमें मुसलिम राज्यके स्थापित होनेके बाद ऐसा न हो सका। प्रथाएँ बदली, लोगोंके विश्वासो, विचारो और धारणाओमे परिवर्तन हुए परन्तु इन परिवर्तनोको शास्त्रीय रूप न मिल सका इसलिए वह अपने उद्गम स्थानसे बहुत दूर जा पडे। इसीका यह परिणाम है कि कन्यादानकी प्रथामे ऐसी बाते आ गई जो प्राचीन आर्य विचारोसे सर्वथा

प्रतिकूल है। यदि मनीषियोका ध्यान इस ओर जाय तो इसका शुद्ध रूप स्थापित करके हिन्दू विवाह पद्धतिकी पवित्रताकी पुन प्रतिष्ठा हो सकती है परन्तु कन्यादान या विवाह-सम्बन्धी अन्य किसी कृत्यकी शुद्धि तभी हो सकती है जब हिन्दू विवाहका शास्त्र सम्मत उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाय।

कुछ लोगोका ऐसा कहना है कि मैंने इस उद्देश्यका जो रूप दिखलाया है वह काल्पनिक है—विवाहका मूल वस्तुत कामचार है। निश्चय ही मनुष्यकी सहज प्रवृत्तियोमे कामका भी स्थान है और बहुतसे लोगोंके लिए विवाह इस वासनाकी तृप्तिका वैध साधन मात्र है। परन्तु प्राचीन कालसे ही आर्य मनीषियोने इस सहज प्रवृत्तिको, जो मनुष्यकी ही भाँति पशु पक्षियोमें भी पाई जाती है, शुद्ध रूप देनेका प्रयत्न किया। इस पर नियन्त्रण लगाये गये और इसकी तृप्तिको स्वय साध्य न मान कर दुष्प्राप्य ऊँचे लक्ष्योकी प्राप्तिका साधन बताया गया। बार बार यह उपदेश दिया गया है कि अर्थ और कामकी खोज धर्मके नियन्त्रणमे ही होनी चाहिये। श्वेतकेतुकी कथामें ऐतिहासिक तथ्य चाहे जो हो परन्तु वह यह बतलाती है कि जिन लोगोमें उसका प्रचार था उनकी दृष्टिमे निरकुश कामचार गर्हित था और उसका नियत्रण श्रेयस्कर। नियत्रणकी मात्राकी पुष्कलताके कारण ही ब्राह्म विवाह राक्षस और पैशाच ही नही प्रत्युत आर्ष, दैव और प्राजापत्यसे भी ऊँचा ठहराया गया है। समाजकी बुद्धिमें उन आदर्शोंके पुन· अवतरित होनेसे ही कल्याण होगा। आज कल जिस तेजीसे सामाजिक विधानोमे उलट फेर हो रहा है उससे यह आशंका होती है कि कुछ दिनोके बाद विवाह संस्कार न रह कर लौकिक इकारनामा मात्र रह रह जायगा। उस दशामे उन आध्यात्मिक भावनाओके लिए स्थान ही न रह जायगा जो हिन्दू विवाहकी आधारशिला है। भगवान् हमको ऐसी बुद्धि दे कि कालानुगत परिवर्तन करते हुए भी उन पवित्र मान्यताओकी रक्षा कर सकें जो हमारी संस्कृतिकी विशेषताएँ है।

लखनऊ,
पौष कृष्ण १३, २०१२

—सम्पूर्णानन्द

पहिला अध्याय

समाजमें स्त्रियोंका स्थान

[१] हिन्दू समाजके बाहर

इस पुस्तकका उद्देश्य तो हिन्दूसमाजकी विवाहपद्धतिके एक विशेष अंगका अध्ययन करना है परन्तु दूसरे समुदायोमे स्त्रियोका जो स्थान रहा है और उस स्थानके कारण विवाहका जो स्वरूप रहा है उस पर दृष्टिपात करनेसे प्रकृत विपयको समझनेमे सहायता मिल सकती है। जिन मानव-समुदायोंको देश और कालने एक दूसरेसे पृथक् कर रक्खा था उनके विचार किस प्रकार समय समयपर टकराते रहे है यह स्वय अध्ययनके लिए रोचक विषय है।

यूनानियोके सम्बन्धमे विशेष वक्तव्य नही है। यह जाति यूरोपमें सभ्यता और सस्कृतिकी अग्रदूत थी और इसका सिक्का उन लोगोपर भी बैठा हुआ था जो युद्धक्षेत्रमे इसपर विजय पा चुके थे। परन्तु स्त्रियोंके सम्बन्धमें इन लोगोके विचार बहुत ही अनुदार थे। 'ए शार्ट हिस्टरी आव विमेन' मे डेयर्स कहते है कि प्राचीन यूनानमे स्त्रियोका दर्जा शाक-भाजियोके बराबर था। यूनानने अफ़लातून और अरस्तू जैसे दार्शनिकोंको जन्म दिया जिनके विचारोंका आज भी सर्वत्र आदर है। विज्ञान, राजनीति, दर्शनके क्षेत्रोंमें मनुष्यने शताब्दियोतक यूनानका नेतृत्व स्वीकार किया परन्तु दुःखकी बात है कि यूनानी विद्वानोंका ध्यान स्त्रियोंकी परिस्थितिकी ओर नही गया। यो तो अपने व्यक्तित्वके बलपर स्त्री अपने लिए जगह बना ही लेती है परन्तु समाजकी उत्कृष्टता तो इस बातसे जाँची जाती है कि उसके विद्वान् और विधान स्त्रियोंको कैसी जगह देते है।

आरम्भमें रोमकी भी यही अवस्था थी। वहाँ भी स्त्रियोका स्थान बहुत नीचा था। ऐसा माना जाता था कि पिता अपनी सन्तानका पूर्ण स्वामी है, उसको सन्ततिके जीवनपर पूरा अधिकार है और यह अधिकार प्राणदण्डकी सीमा तक जा सकता है। पिताके जीवनकालमें इस स्वत्वकी समाप्ति नही हो सकती थी। पिताके मरनेपर लड़का तो इस बन्धनसे मुक्त हो जाता था क्योकि ऐसा माना जाता था कि पुरुष होनेके कारण वह पिताका स्थान लेनेकी क्षमता रखता है परन्तु लडकियोमे यह क्षमता कभी भी नही होती। इसलिए पिताकी मृत्युके बाद भी वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती थी। यदि पिता अपने जीवनकालमे कोई अभिभावक नियुक्त कर गया हो तो लड़की उसके अधीन रहती थी अन्यथा घरमे जो कोई भी पुरुष बडा होता था वही उसका संरक्षक हो जाता था। स्त्रीके लिए नित्यपारतन्त्र्यका सिद्धान्त सर्वमान्य था। इस सिद्धान्तका विवाहपर विलक्षण प्रभाव पडता था। लडकी तो यावदायु पिताकी सम्पत्ति थी पर उसको रहना था पतिके घर। एक ही प्राणीपर दो व्यक्तियोका अधिकार व्यवहारसुकर न होता। अतः यह माना जाता था कि पिताका स्वत्व पतिमे चला गया और पति पत्नीके लिए पितृस्थानीय हो गया। दूसरे शब्दोमे लड़की पतिकी दुहितृस्थानीया हो गई। सम्पत्ति उसके पास न पीहरमे थी, न ससुरालमे। यदि पति मरनेसे पहिले कोई अभिभावक नियुक्त कर जाता था तो वह उसकी देखभाल करता था, नही तो पुत्र या अन्य बडा पुरुष सम्बन्धी उसको अपने तंत्रमें रखता था।

काल पाकर यह परिस्थिति बदली। जब रोमन साम्राज्य फैला तो रोमन लोग दूसरे राष्ट्रोंके सम्पर्कमें आये जिनमे कुछ तो उनसे अधिक सभ्य और सस्कृत थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके सभी विधान और नियम धीरे धीरे बदले। इसका प्रभाव वैवाहिक नियमो पर भी पडा। यह माना जाने लगा कि पत्नी अपने पिताकी सम्पत्ति होते हुए भी अस्थायी रूपसे पतिके पास धरोहरकी भाँति रख दी जाती है परन्तु सम्पत्तिके विषयमे

वह पिताके ही अधीन है। क्रमश लड़कीकी सम्पत्ति पर पिताके अधिकार ढीले होते गये परन्तु पतिके अधिकार बढाये नही गये। फलत स्त्री अपनी सम्पत्तिकी स्वतन्त्र स्वामिनी हो गई।

जब रोमन साम्राज्यकी परिधिके भीतर बहुतसे बर्बर, अर्द्धसभ्य और सभ्य राष्ट्र आये और रोमको अपने बराबरके राज्योंसे सन्धि समझौते करने पडे तो बहुत सी वैधानिक समस्याएँ उपस्थित हुई। उनका सुलझाव पुराना रोमन विधान नही कर सकता था। परन्तु रोमन विधानाचार्योंने मार्ग ढूँढ निकाला। उन्होने दृष्टि फैलाकर देखा कि सभी जातियोंके विधानोमे कुछ बाते समानरूपसे पाई जाती है। जंगलियोके अलिखित व्यवहारमे भी बीजरूपेण उनका अस्तित्व है। उनके बिना मात्स्यन्यायसे मनुष्य मनुष्यको खा जाय और समाजका अस्तित्व ही मिट जाय। विधानके पडितोने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकृतिने स्वय मनुष्यके हृदयमे कुछ सिद्धान्त रख दिये है। इनको उन्होने प्राकृतिक विधानका नाम दिया और ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तोके समुच्चयके आधारपर साम्राज्यकी वैधानिक कठिनाइयोंको सुलझाया। इसका प्रभाव और बातोके साथ साथ स्त्रियोकी स्थितिपर भी पड़ा। 'एशेण्ट लॉ' मे मेनने लिखा है—"प्राकृतिक विधानके सिद्धान्तके फलस्वरूप विधानशास्त्रियोने अपने न्यायविधि संग्रहके आधार-भूत सिद्धान्तोमे स्त्री-पुरुषकी बराबरीकी बात मान ली थी। पिताका अपनी पुत्रीके शरीर पर स्वत्व, उसको बेचने और प्राणदण्ड देनेका अधिकार, पूर्णतया लुप्त हो गया था और स्त्रीको अपनी सम्पत्तिका प्रबन्ध करनेका अबाध अधिकार प्राप्त हो गया था।"

उत्तरी यूरोपकी नॉर्डिक जातियोमे भी, जो आजकलके अंग्रेजो, जर्मनो और इनसे मिलते जुलते जनपदोकी पूर्वज थी, पिताको प्राय. ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे। परन्तु उन्होने पतिको पितृतुल्य पद देनेकी जगह दूसरा ही उपाय निकाला था। विवाहके समय वर कन्याके पिताको मूल्य देकर उस स्त्रीके शरीरपर स्वत्व प्राप्त कर लेता था।

प्राय: सभी जंगली और वर्बर तथा अर्धसभ्य जातियोंमें स्त्रीका पद पुरुषसे बहुत छोटा था । उसकी गणना शाकभाजीमे ही होती परन्तु मनुष्यकी आकृति होनेसे और थोडी बहुत बुद्धि होनेसे कुछ लिहाज करना ही पडता था । फिर भी उसको निरन्तर अकुशके नीचे रखना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता था । कही कही तो यहाँतक दस्तूर था कि अपने घर अतिथि आनेपर पत्नी उसके तृप्त्यर्थ अर्पित कर दी जाय । फ्रिजियन लोगोके पास जब रोम सरकारको कर देनेके लिए अन्य सामग्रीकी कमी पडती थी तो वह पत्नियो और बच्चोको भेज देते थे ।

प्राचीन कालसे ही चीनका स्थान सभ्य जगत्से बहुत ऊँचा रहा है । चीनियोको अपनी संस्कृतिके विकासके लिए सहस्रो वर्षोतक निर्बाध अवसर मिला । जब मचुओने उनको जीता तो उनकी सस्कृतिको ज्योका त्यो अपना लिया । इस देशके इतिहासमे कई प्रभावशालिनी और आदरास्पद स्त्रियोके नाम आते हैं परन्तु स्त्रियोके प्रति लोगोका जो दृष्टिकोण था उसकी व्यञ्जना प्रसिद्ध दार्शनिक कफ्यूशियस इन शब्दोमे करते हैं 'स्त्री सदैव परतत्र रहती है और उसको चाहिए कि अपने पति और श्वसुरके प्रति समुचित रीतिसे विनीत रहे ।' साधारण चीनी स्त्रीका मुख्य काम क्या समझता है इसकी झलक इस बातसे मिलती है कि पत्नीकी ओर बहुधा 'मेरे बच्चोकी माता' कहकर सकेत किया जाता है । यह जान लेना चाहिए कि यह अनादरसूचक आख्या नही है । स्त्री सार्वजनिक क्षेत्रसे प्राय: अलग रहती थी परन्तु घरपर उसका स्थान बहुत ऊँचा था ।

प्राचीन मिस्रमे स्त्रियोका स्थान अन्य बहुतसे देशोकी अपेक्षा ऊँचा था । वह पुरुषोके बराबर मानी जाती थी और न केवल राज्यमे बड़े पदोपर नियुक्त होती थी प्रत्युत धर्म्मगुरुओ और धर्माचार्योकी श्रेणीमे भी आ सकती थी । उनके बाहर निकलनेपर कोई रोक टोक न थी और विशेष अवसरोंपर पति पत्नी एक ही मंच पर, एक ही बडी कुर्सी पर, बैठा करते थे ।

ईसाई धर्म्ममे ईसाकी माता मरियमका स्थान बहुत ऊँचा है । वह

पूज्य दृष्टिसे देखी जाती है। ऐसी अवस्थामें ईसाइयोंमें स्त्रीका बहुत आदर होना चाहिए था। परन्तु वस्तुतः ऐसा था नहीं। ईसाई होनेके बाद भी विभिन्न जातियोंके आचार विचार प्राय. पूर्ववत् रहे। बाइबिलमें ऐसा उल्लेख है कि आदिनारी ईवसे रुष्ट होकर ईश्वरने उससे कहा था 'मैं तेरे दुखोंको बढाऊँगा', फिर यदि साधारण मनुष्य ईश्वरका अनुकरण करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? स्त्रियोंको सम्बोधित करके महात्मा टर्टयुलिअनने कहा है 'तुम नरकका द्वार हो। नर ईश्वरकी प्रतिभा है, तुम उसको नष्ट कर देती हो।' विवाह पवित्र सस्कार है और पत्नीको भगवान्को साक्षी करके यह प्रतिज्ञा करनी पडती है कि वह पतिसे प्रेम करेगी, उसका आदर करेगी और उसकी वशवर्तिनी रहेगी। ईसाई धर्म बहुविवाहकी आज्ञा नहीं देता परन्तु फिर भी पुरुषको बहुत सी सुविधाएँ हैं। जैसे आचरणसे स्त्री तत्काल ही पतित ठहरा दी जायगी वैसा यदि पुरुष करे तो उतनी कडाई नहीं बरती जाती। तिलाक भी पुरुषको जल्दी मिलता है।

अरबोंमें भी कभी लड़कीका दर्जा बहुत छोटा माना जाता होगा और वह विवाह आदिके विषयमें पिताकी इच्छाके अधीन मानी जाती होगी। कुरान और हदीसमें इसकी ध्वनि मिलती है। आयशाके अनुसार जो स्त्री अपने पिताकी स्वीकृतिके बिना विवाह करती है, उसका विवाह प्रशस्य नहीं है।

अबू हरैरा लिखते हैं 'एक स्त्री दूसरी स्त्रीका दान विवाहमें नहीं कर सकती और न कोई स्त्री स्वत· अपनेको पतिको अर्पित कर सकती है क्योंकि जो स्त्री अपनेको पुरुषको सौपती है वह व्यभिचारिणी होती है।' परन्तु इसके विरुद्ध इब्न अब्बास बताते हैं 'एक बार मुहम्मद साहबके पास एक महिलाने आकर कहा कि मेरे पिताने मेरा विवाह ऐसे पुरुष से कर दिया है जिसको मैं पसन्द नहीं करती।' तब उन्होंने उसको अपनी इच्छा पर छोड़ दिया अर्थात् अपनी पसन्दके वरसे विवाह करनेकी स्वतन्त्रता दे दी।

सैयद अमीरअलीका कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि मुस्लिम विधानके अनुसार 'पिता लड़कीका अभिभावक या वलीमात्र है जो कन्याको ओरसे कानूनी काम करता है, वह किसी भी दृष्टिसे उसका स्वामी नही है । पति भी स्वामी नही होता । .... ..बालिग होनेके बाद क़ानून उसको स्वतन्त्र मनुष्यके सभी अधिकार प्रदान कर देता है ।' यह दु ख का विषय है कि व्यवहारमे स्त्रीका स्थान उतना ऊँचा न रह सका । पर्देकी प्रथाने उसे और नीचे गिराया । यह तो सभी जानते है कि मुस्लिम विधानके अनुसार पिताकी सम्पत्तिमे लडकीका भी हक होता है । यह भाग लडकेके भागसे भले ही कम हो पर इससे स्त्रियोको कुछ न कुछ आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जाती है जिससे समाजमे उनको आदरका स्थान प्राप्त करनेमें सफलता मिलती है और मिली है ।

[२] हिन्दू समाजके भीतर

वर्तमान हिन्दूसमाजकी उपमा गगाकी धारासे दी जा सकती है । छोटी बड़ी अनेक नदियाँ चारो दिशाओसे सैकड़ों कोसकी यात्रा करके इसमे मिली है परन्तु मिलनेपर सब एक हो गई है, उनका एक नाम हो गया है । नदीमे जलकी जो मात्रा है, उस जलमे जो वेग है, वह इन सब नदियोकी सम्मिलित देन है । पर इन सब जलराशियोके बीचमे वह मूल धारा है जिसमे आकर यह सब मिली है । यदि वह आदिस्रोत न होता तो यह मिलकर एक होनेका अवसर ही न पातीं । इन सबके बीचमें शरीरमे प्राणकी भाँति वह धार है जो गंगोत्तरीसे निकलकर गगासागर तक चली गई है, जो अपने क्रोड़में सब नद नदियोको स्थान देती गई है और सबको अपने पवित्र नाम और अलौकिक प्रभावका भागी बनाती गई है । अनेक जातियोका समुच्चय आज हिन्दू समाज कहलाता है, अनेक संस्कृतियोंके योगफलका नाम हिन्दू संस्कृति है पर इन सबके मूलमे, इन सबका आश्रयस्थान और सम्बन्धसूत्र, इन सबमे ओतप्रोत, वह सस्कृति है जिसको आर्य्य सस्कृति कहते

है, जिसका प्रथम परिचय हमको उन लोगोमे मिलता है जो आजसे कई सहस्र वर्ष पहले सप्तसिन्धवमे रहते थे और अपनेको आर्य्य कहा करते थे ।

आर्य्यजीवनकी झलक हमको वेदों, मुख्यत. ऋग्वेद और अथर्ववेद, से मिलती है । उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाजमे स्त्रियोका स्थान बहुत ऊँचा था । पीछेसे भले ही यह मान लिया गया हो कि स्त्रीको वेद पढ़नेका अधिकार नही है, परतु वैदिक ऋषियोमे, मनुष्योमे वेदको लानेवालोमे, कई स्त्रियाँ भी थी । धर्म्म और अध्यात्मशास्त्रकी ऊँचीसे ऊँची भूमिकाओमे स्त्रियोकी गति थी । बृहदारण्यक उपनिषद्का सारभाग याज्ञवल्क्यकी पत्नी मैत्रेयीकी ब्रह्मजिज्ञासाके फलस्वरूप अवतरित हुआ था और विदेहकी सभामे याज्ञवल्क्यसे गार्गी नामकी विदुषी तपस्विनीने शास्त्रार्थ किया था । स्त्रियोको सम्पत्ति रखनेका भी अधिकार रहा होगा क्योकि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियोमे बाँटकर ससारसे विमुख होनेका प्रस्ताव कर रहे थे । स्त्री पति या उसके सबन्धियोकी दासी न होकर गृहस्वामिनी होती थी इसका प्रमाण वह मत्र देता है जो पहिले-पहिले सूर्य्याके विवाहमे पढा गया और तबसे आजतक प्रत्येक शास्त्रसम्मत हिन्दू विवाहमे दुहराया जाता है .

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु ।। ऋक्—१०।८५।४६

सास, श्वसुर, ननद और देवरोपर सम्राज्ञी हो—

यह आदर्श उन आदर्शोसे कितना ऊँचा है जिनमे स्त्री सदा परतंत्र मानी जाती है और उसको यह आदेश दिया जाता है कि पतिके सम्बन्धियोकी सेविका बनकर रहे । प्रेम और आदर करनेका कर्तव्य तो था परन्तु पति पत्नी दोनोके लिए । विवाहके समय दम्पती संकल्प करते है :

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ।।

अपने व्रतमे तुम्हारे हृदयको धारण करता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्तके अनुकूल हो। एक मनसे मेरी बातका पालन करो, प्रजापति तुमको मेरे लिए नियुक्त करे—

पर इस अवस्थामे क्रमशः परिवर्तन हुआ। सप्तसिन्धवसे बाहर आर्य्योका बहुत सी व्रात्य, वर्बर, असभ्य और अधिकतर अनार्य्य जातियोसे सम्पर्क हुआ। उन लोगो पर तो आर्य्य सस्कृतिकी अमिट छाप पड़ी ही परन्तु आर्य्य भी अछूते न बच सके। अरब, पठान और मुगल आक्रमणोने परिवर्तनकी गति और तीव्र कर दी। अन्य उलटफेरके साथ स्त्रियोका स्तर नीचे गिरा। यह परिवर्तन अपनी छाया सस्कृत और प्राकृत तथा प्राकृतसे निकली पीछेकी भारतीय भाषाओके वाङमय पर छोड़ गया है। पुराने मत्र ज्यो-के-त्यों थे, पुराने संस्कारोका परित्याग नही किया गया परन्तु उनका व्यवहार निर्जीव हो गया। मत्रद्रष्टी स्त्रियोकी वशजाओसे वेद पढनेका अधिकार छिन गया। कुछ स्मृतियोमे, जो अन्त साक्ष्यसे अरब-पठान आक्रमणके प्रारम्भिक कालकी बनी प्रतीत होती है, दूषित और बलात् धर्म्मान्तरमे प्रवेशित स्त्रियोंकी शुद्धिके लिए बहुत सरल व्यवस्था दी हुई है। बहुधा तो मासिकधर्म्मसे ही शुद्धि मान ली जाती थी। उन दिनों जो हिन्दू स्त्रियाँ विदेशियोके हाथमें पड जाती थीं वह लौट आनेका पूरा यत्न करती थी। इस प्रयासमे कइयोने असाधारण शौर्य्य और दृढताका परिचय दिया था। परन्तु पीछेसे यह मान लिया गया कि जो स्त्री एकबार पतित कर दी गई वह कभी शुद्ध नही हो सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियोको लौटनेका उत्साह जाता रहा और वह तथा उनकी सन्तति उस हिन्दू समाजकी कट्टर शत्रु बन गई जिसने उनका इस प्रकार निर्दय तिरस्कार किया था।

यों तो वेदोंमे पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोके छोटे होनेकी ओर कही कही सकेत मिलता है परन्तु इस प्रकारके स्पष्ट वचन पीछेके कालमे बहुतायतसे मिलते है। अपनी स्मृतिके पन्द्रहवें अध्यायमे वशिष्ठ कहते है

शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकः। तस्य प्रदानविक्रय-त्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।

पुरुष मातापिताके रजवीर्य्यसे उत्पन्न होता है, अतः मातापिताको उसको दान करने, बेचने और त्याग करनेका अधिकार है—यहाँ तो सन्तति-मात्रपर अधिकार माना गया है परन्तु पीछेसे यह अधिकार लड़कियोंतक ही सीमित रह गया। मनु कहते हैं :

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ (९–३)

बचपनमे पिता और यौवनमे पति रक्षा करता है तथा बुढापेमें पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतत्र रहनेके योग्य नहीं है।

इस वाक्यका यह भी अर्थ हो सकता है कि बचपनमें पिताका, यौवनमें पतिका तथा बुढापेमे पुत्रोका कर्तव्य है कि स्त्रीकी रक्षा करे। स्त्रीको अरक्षित, नि.सहाय, न छोड़ना चाहिये।

घरमे स्त्रीका स्थान सदैव ऊँचा रहा। प्राचीन आर्य्य परम्पराका लोप नही हुआ। मनुने लिखा है :

एतावानेव पुरुषः, यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह,
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्, यो भर्ता साऽङ्गना स्मृता॥ (९।४२)

स्वय, अपनी स्त्री, और सन्तानको मिलाकर पुरुष होता है। विद्वानोका कहना है कि जो पति है, वही स्त्री है (अर्थात् दोनो पूर्णतया मिले हुए हैं)।

इसका भाष्य करते हुए कुल्लूकभट्टने वाजसनेय ब्राह्मणसे यह वाक्य उद्धृत किये है :

अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद् यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्य्या स्मृता।

इसलिए वह अपने आत्माका आधा ही रहता है जबतक विवाह नही करता। जबतक सन्तान नही होती तब तक असर्व रहता है। जब विवाह कर लेता है और सन्तान उत्पन्न कर लेता है तब वह सर्व होता है। वेदके जाननेवाले विद्वान् ऐसा कहते है कि जो भर्ता है वही भार्य्या है—

यह तो बडा ऊँचा विचार है परन्तु वह दूसरा विचार भी कि स्त्री स्वतत्र छोडनेके योग्य नही है, फैलता गया। स्त्रीको परतंत्र रखनेका कारण यह नही है कि वह कोमल मृणालतन्तुके समान रक्षाके योग्य है परन्तु यह कि वह पुरुषकी अपेक्षा हीन प्राणी है और लोक-परलोकमे पुरुषकी उन्नतिमे बाधा डालती है। भर्तृहरि कहते हैं—

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः॥

ससारसे छुटकारा पाना कठिन न होता यदि मदिरासमान नेत्रवाली स्त्रियाँ बीचमे बाधा न डालती—

यह कोई नही पूछता कि स्त्रियोके मार्गमे कौन बाधा डालता है। साधारण मनुष्योंकी तो बात क्या की जाय जब मर्य्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भी प्रेम और तपकी मूर्ति सीताके प्रति निरादरसूचक शब्दोके प्रयोग करनेका साहस कर जाते हैं।

विदितश्चास्तु ते भद्रे, योऽयं रणपरिश्रमः।
स तीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः॥

(वाल्मीकि–६, ११८,१५)

हे भद्रे, तुम यह समझ लो कि यह जो महायुद्ध मैने किया है वह तुम्हारे लिए नही किया गया —

रघुवशमे कालिदास भी यही बात कहते हैं। सीताको यह बात समझा दी गई है कि रावणसे उनके लिए युद्ध नही किया गया वरन् इसलिए कि रावणने रामचन्द्रजीको छेडा था। '**पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः**'—यदि

कोई साँपको ठोकर लगायेगा तो वह उसको डसेगा ही । लकाकी लडाईका कारण सीताके प्रति प्रेम नही प्रत्युत रावणके प्रति अमर्ष था ।

यह बात भी मान ली गई कि पति स्त्रीके शरीरका स्वामी है और उसको दूसरेके हाथमे दे सकता है । ऐसा होता बहुत कम होगा परन्तु धारणा रूपसे यह बात सबके मनमें बैठ गई थी । जब युधिष्ठिरने द्रोपदीको दाँवपर लगाया तो यह आपत्ति किसीने नही की कि ऐसा करना अवैध होगा । स्वय द्रौपदीको भी शका नही हुई । उन्होने केवल यह प्रश्न पूछाः—

किन्तु पूर्व पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ।

किन्तु तुम पहले अपनेको हारे या मुझको ?—इसका भाव स्पष्ट है । यदि राजा पहिले अपनेको हार चुके होते तो वह परतत्र हो जाते और उनको जीव अजीव किसी सम्पत्तिपर कोई अधिकार न रह जाता और यह द्रौपदीकी बाजी लगा ही न सकते ।

स्त्रियोंको दानमे दे देने या अन्य प्रकारसे हस्तान्तरित करनेकी कहानियाँ मिलती हैं और श्रद्धालुओंको उनमे बर्बरताकी दुर्गन्ध नहीं आती । कबीरके जीवनकी एक कथा प्रसिद्ध है । एक दिन सायकाल उनके यहाँ यकायक बहुतसे साधु आ गये । घरमे अन्न न था । कबीर अपनी पत्नीको एक सेठके घर गिरवी रख आये । वह जानते थे कि यह दुराचारी है और मेरी पत्नीको कुदृष्टिसे देखता है पर उसीसे उस समय पर्याप्त पैसा मिल सकता था । यह दूसरी बात है कि भगवान्ने उस सतीके धर्म्मकी रक्षा की, परन्तु यदि कथा सच हो तो कबीरने अपनी ओरसे तो अपनी पत्नीके साथ घोर अनार्य्य और अमानव बर्ताव किया । कथा सच हो या झूठ परन्तु जो लोग उसको श्रद्धाके साथ सुनते है वह अपनेको उस पापका भागी बनाते हैं । यदि कहानी गलत है तो जिसने इसे गढा उसने ऐसी बात कही जिसको तत्कालीन लोकमत बुरा नही समझता था ।

ईसाई प्रचारकोने भारतीय समाजके काले चित्र खींचनेमें कोई कसर नही उठा रक्खी । ऐसी करुणोत्पादक बाते सुनाकर ही वह अपने देशोके

उदार व्यक्तियोसे चन्दा जमा कर सकते थे। पश्चिमकी सभ्यताकी चका-चौधमे अपनी बुद्धिकी स्थिरता खोकर कुछ भारतीय समाज सुधारकोने भी अपनी परम्पराओकी निन्दाके पुल बॉध दिये। इन बातोमें बहुत अति-रजन था। सार्वजनिक रूपसे स्त्रियोके व्यक्तित्वको विकसित होनेके अवसर कम हो गये हो और समाजने उनका पद पुरुषोसे नीचा भले ही माना हो परन्तु ऐसी कोई बात नही थी जिससे हिन्दूको दूसरोके सामने लज्जित होना पडे, लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गाकी उपासना करनेवाला, पार्वती, सीता और सावित्रीका यशोगान करनेवाला, सप्तशतीके इस वाक्यको बराबर सुननेवाला, '**स्त्रिय समस्ता सकला जगत्सु, तव देवि भेदा**' हे देवि, जगत्की सब स्त्रियॉ आपकी ही भेद है—स्त्रियोको कहॉ तक नीचे गिराता। मनुके इस उपदेशका कि '**पितु शतगुणा माता**—पितासे माताका पद सौगुना है'—श्रद्धाके साथ पालन होता था। महाभारतका यह वाक्य द्रष्टव्य है.

ब्राह्मणेषु च ये शूरा:, स्त्रीषु जातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं, धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥

जो लोग ब्राह्मण, स्त्री, गऊ और जातिका हनन करते हैं, वह लोग, हे धृतराष्ट्र, पके फलकी भॉति गिरते है। यहाँ स्त्री गऊ और ब्राह्मणके समान पूज्य ठहरायी गयी है।

यह सच है कि किसी किसी स्मृतिकारने स्त्रियोका पद बहुत नीचे गिरा दिया है। बृहस्पति स्मृति कहती है.—

सहस्रमेव धेनूनां, शतं चानडुहां समम् ।
शतानडुत्समं यानं, दशयानसमं हय.
दशवाजिसमा कन्या ।

यह श्लोक दान प्रकरणमें आया है। इसका तात्पर्य यह है कि एक सहस्र गौवोके बराबर एक सौ बैल होते हैं, सौ बैलोंके बराबर एक यान (रथ)

होता है और दस रथोके बराबर एक घोडा होता है। दस घोड़ोके बराबर एक कन्या होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कन्याका बाजार भाव घोडे बैलोके साथ सुगमतासे स्थिर किया जा सकता है। परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण बातोके साथ साथ प्रचुर मात्रामे ऐसे वाक्य मिलते हैं जो स्त्रियोंके प्रति सम्मानके द्योतक है। मनु स्पष्ट कहते हैं:—

न निष्क्रयनिसर्गाभ्याम्, भर्तुर्भार्य्या विमुच्यते (९।४६)

स्त्रीका पतिसे विक्रय या दानके द्वारा विच्छेद नही हो सकता।

महाभारतका कहना है—

यथैवात्मा तथा पुत्रः, पुत्रेण दुहिता समा।

जैसे आत्मा वैसे ही पुत्र होता है और लडकी पुत्रके बराबर होती है—

संन्यासी सस्कारके सभी बंधन तोड़ देता है। यदि उसका पिता भी मिल जाय तो संन्यासी उसे प्रणाम नही करेगा। परन्तु माताके लिए अपवाद है। माताके चरण सन्यासीको छूने ही होगे।

पति या पुत्रके न होनेपर स्त्रियाँ बराबर राज्याधिकारिणी होती आई हैं। इस सम्बन्धमे कभी कोई वैधानिक अडचन नही पड़ी। वीर नारियोके नामसे भारतीय इतिहासके पन्ने भरे पड़े है। इस परम्पराका एक परिणाम तो प्रत्यक्ष हुआ। अन्य देशोकी भाँति भारतीय स्त्रियोको मताधिकारके लिए लड़ना नही पडा। जब उनको वोट देनेका, और चुने जानेका, अधिकार मिला तो किसी ओरसे भी विरोध नही हुआ। आज स्त्रियाँ बड़े-बड़े पदोपर नियुक्त होती हैं, इसकी भी कोई प्रतिक्रिया नही देख पड़ती।

सम्पत्तिके सम्बन्धमे स्त्रियों और पुरुषोंमें वैषम्य है। कुछ शास्त्रकारोंका तो यह मत है कि स्त्रियोको पैतृक सम्पत्तिमे कोई भाग न मिलना चाहिए। तैत्तिरीय सहितामें उनको अदायादी—दायमे भाग न पानेवाली—कहा है। वैदिक कालमे भी सिद्धान्त और व्यवहारमे कुछ अन्तर रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मणमे याज्ञवल्क्य एक ओर तो

कहते हैं **न ताः दायस्य चैशत**—वह (स्त्रियाँ) दाय भोगनेके योग्य नही हैं—और दूसरी ओर स्वय अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियोमे बाँटते है । क्रमशः यह बात स्वीकार कर ली गई कि विशेष परिस्थितियोमे स्त्रियोतक दाय उतर सकता है ।

प्राचीन कालसे ही स्त्रियोको यहाँ एक बहुत बड़ा अधिकार मिला हुआ है । स्त्री अपने पिता-मातासे या पतिसे जो कुछ चलाचल सम्पत्ति पाती है उसे स्त्रीधन कहते हैं । उसपर उसका एकमात्र अधिकार होता है । पति पर चाहे जितना ऋण हो जाय परन्तु महाजन उस पर हाथ नही डाल सकता । मृत्युके बाद यह सम्पत्ति दिवगता स्त्रीकी लडकियोको मिलती है । इस व्यवस्थाने हिन्दू स्त्रियोको ऐसी आर्थिक स्वाधीनता दे दी है जिसके लिए पाश्चात्य नारी भी तरसती है ।

हिन्दू समाजमे अबतक विवाहविच्छेद (तलाक) की प्रथा नही थी । इसपर समाजसुधारकोको बडी आपत्ति है । हो सकता है कि तलाक किन्ही दृष्टियोसे अच्छी चीज हो परन्तु अबतक तो इस प्रथाके अभावने हिन्दू स्त्रीकी बहुत रक्षा की है । पति पत्नीमे चाहे प्रेम न हो परन्तु स्त्री पतिकुलके लिए पोष्या रही है । विधवा होनेपर भी उसका यह अधिकार अक्षुण्ण रहता था । इसलिए एक ओर तो वह रोटियोंके लिए भिखारिन बननेसे बच जाती थी, दूसरी ओर पेटके लिए धर्म्म बेचनेकी लालचसे भी दूर रहती थी । मै यह नही कह रहा हूँ कि स्त्रियोके साथ दुर्व्यवहार नही होता, तात्पर्य केवल इतना है कि उनकी रक्षा और ससम्मान जीवननिर्वाहके लिए भी पर्य्याप्त प्रबन्ध है ।

सतीत्वको जो असाधारण महत्त्व दिया गया है इस पर कुछ लोगोंको आश्चर्य होता है, आजकल इस पर हँसने और इसे असामयिक माननेकी भी कुछ प्रवृत्ति है । यह भावना इस बातकी द्योतक मानी जाती है कि पुरुष स्त्रीको भुलावेमे डालकर अपने साथ बाँध रखना चाहता है । सम्भव है यह सब बाते अंशत. सच हो । पुरुषकी सद्भावनाकी वकालत मैं भी नहीं

करता परन्तु यह भी सच है कि हिन्दू समाजने सतियोंको जो ऊँचा स्थान दिया है, गौरी, सावित्री, लोपामुद्रा, अरुन्धती, सीताको जिस आदरकी दृष्टिसे देखता है, उसका प्रभाव स्त्रियोंके लिए बड़ा अच्छा हुआ है । स्त्रीकी सहज पवित्रताके सामने पुरुषको सिर झुकाना ही पडता है, स्त्रीको भी इन आदर्शोंको अपने सामने रखना ही पडता है ।

वर्तमान कालके सम्बन्धमे कुछ कहना अनावश्यक है । वह तो हमारे सामने है । स्त्रियोकी सामाजिक और आर्थिक स्थितिमे भी परिवर्तन हो रहे हैं । यह कहना कठिन है कि यह परिवर्तन सबके सब कहाँ तक वाञ्छनीय है ।

भारतमें और उसके अगभूत हिन्दू समाजमे भी द्रुत गतिसे अवस्था बदल रही है । कुछ परिवर्तन तो स्वाभाविक और कालगतिके अनुरूप हैं और कुछ केवल पश्चिमकी नकल हैं । विवाह और दायभागके नियमोपर आलोचकोकी कडी दृष्टि है, पुराने विचार ढीले पड रहे हैं, पुराने विश्वासोंमे वह पहिलेकी शक्ति नही रही, पुराना आर्थिक ढाँचा भी नही रहा । परिवर्तन होना ही चाहिए परन्तु गम्भीर विचारके बाद, ताकि उसके प्रवाहमे वह विचार और तन्मूलक प्रथाएँ भी न बह जायं जो हमारी संस्कृतिकी प्राणस्वरूपा हैं ।

● ● ●

दूसरा अध्याय

कन्यादान और हिन्दू विवाहमें उसका महत्त्व

दान शब्द दा धातुसे निकला है। उसका प्रयोग खैरात, भेट, समर्पण के अर्थमे होता है। इन सब प्रकारोसे वस्तुका हस्तान्तरण होता है और हस्तान्तरणके साथ साथ उसका स्वामी भी बदल जाता है। मुख्य प्रयोग तो यही है, यों व्यवहारमे ऐसे स्थलोपर भी इस शब्द या इससे सम्बद्ध क्रिया-पदोसे काम लेते है जहां हस्तान्तरण या स्वामिपरिवर्तनका भाव नही होता। उदाहरणके लिए, अतिथिको आसनदान किया जाता है अर्थात् बैठनेकी जगह दी जाती है, दर्जीको कपडे दिये जाते है, परीक्षा दी जाती है इत्यादि। 'कन्यादान' मे दान शब्दका प्रयोग मुख्य अर्थमे ही हुआ है। कन्याका वरको सौप दिया जाना कन्यादान है; उस प्रक्रियाको भी कन्यादान ही कहते है जिसके द्वारा यह दान सम्पन्न होता है। कन्याका पिता ही दाता होता है पर यदि पिता न हो तो याज्ञवल्क्यके अनुसार क्रमात् पितामह, बडा भाई और माता यह कृत्य कर सकते है। यदि इनमेसे कोई भी न हो तो कोई भी बडा सम्बन्धी पिताकी जगह ले सकता है। वर ही आदाता होता है।

यो तो कन्याको वरको अर्पित करनेकी प्रथा अन्यत्र भी पाई जाती है परन्तु हिन्दू समाजमे इसको जिस धार्मिक दृष्टिसे देखा जाता है वह और कहीं नहीं है। दूसरी जगह वह केवल सामाजिक रवाज है जिसको छोड़ देनेसे विवाहकी पद्धतिमे कोई कमी नही आती। हिन्दुओंमें कन्यादान विवाह पद्धतिका अनिवार्य्य अंग है। आर्य्यसमाजने भी इसे रक्खा है। अब तो इसकी अनिवार्यताका केवल एक अपवाद रह गया है। 'अब'

कहनेका विशेष कारण है । हमारी सभी स्मृतियोंने ऐसा कहा है कि विवाह-के आठ प्रकार होते है · ब्राह्म, दैव, आर्प, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच । इनमेसे कुछको तो विवाह कहना भाषाके साथ अन्याय करना-सा प्रतीत होता है । उदाहरणके लिए, पैशाचको बलात्कारसे भिन्न मानना कठिन प्रतीत होता है । स्मृतिकारोने इनको इसीलिए विवाहकी पदवी दी है कि इनसे जो सन्तान उत्पन्न हो वह वैध मान ली जाय और निरा-श्रय न रहे । आजकल ब्राह्म ही वास्तविक विवाह माना जाता है । हिन्दू-मात्रमे, कमसे कम उन लोगोमे जो न्यूनाधिक रूपसे शास्त्रोका पालन करते हैं, यही प्रचलित है । स्मृतियोने भी इसको ही सबसे श्रेष्ठ और पवित्र बत-लाया है । परन्तु इसके साथ साथ गान्धर्वको भी मान्यता प्राप्त है । यदि कोई स्त्री और पुरुष साथ रहते हो और दम्पती जैसा व्यवहार करते हो और यदि उनका विवाह अन्य किसी कारणसे अवैध न होता हो तो उनके इस सम्बन्धको विवाह जैसा मान लिया जाता है । गान्धर्व विवाह-मे कन्यादानके लिए कोई स्थान नही है ।

यहाँ हमको ब्राह्मविवाह पर ही विचार करना है । इसमे ही वस्तुत· कन्यादान होता है । विवाहकी यह पद्धति बहुत लम्बी है । इसकी अन्तिम कड़ी सप्तपदी है ।

कन्यादानसे जो पुण्य होता है वह अक्षय्य और अपरिमेय है । लिग-पुराणके शब्दों में :

यावन्ति सन्ति रोमाणि, कन्यायाश्च तनौ पुनः ।
तावद्वर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ।।

कन्याके शरीरमे जितने रोम है उतने सहस्रवर्ष कन्याका दाता रुद्रलोकमें निवास करता है—

मनु कहते है :

दश पूर्वान् परान् वंश्यान्, आत्मानंचैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्, मोचयेदेनसः पितृन् ।। (३।३७)

ब्राह्मविवाहसे उत्पन्न लड़का अपने कुलके इक्कीस व्यक्तियोको पापसे (नरकसे) मुक्त करता है—अपने पहलेके दस, पीछेके दस और एक स्वय—

भविष्यपुराणकी घोषणा है :

ब्रह्मदेयान्तु यः कन्याम्, अलंकृत्य प्रयच्छति ।
सप्त भूतान्भविष्यांश्च, स्वकुले सप्त मानवान् ।।
तेन कन्याप्रदानेन, तारयिष्यत्यसंशयम् ।

जो कन्याको अलकृत करके ब्राह्मविधिसे देता है वह निश्चय ही अपने सात पूर्वजो और सात वशजोको नरकसे बचा लेता है—

आश्वलायन इससे भी आगे जाते हैं:

तस्यां जातो द्वादशावरान् द्वादशपूर्वान् पुनाति ।

उसमे उत्पन्न हुआ लड़का बारह पूर्वजो और बारह अवरजोंको पवित्र करता है—

इन वाक्योंकी लाक्षणिक मीमांसा ही करनी चाहिए । शब्दशः अर्थ लगाना तो अन्याय होगा । यदि यों ही पूर्वज और अवरज पवित्र हुआ करे तो फिर कोई हिन्दू तो कभी नरक जायगा ही नही क्योकि वह किसी न किसी कन्यादान करनेवालेका पूर्वज या अवरज तो होगा ही । इस प्रकारके वाक्योको अर्थवादकी दृष्टिसे देखना चाहिए जिनमे अतिशयोक्तिमय प्रशसाके द्वारा किसी कर्तव्यकी ओर प्रेरित किया जाता है । तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कोई लड़की बेब्याही न रह जाय । पिता न हो तो कोई और सम्बन्धी इसका दायित्व अपने ऊपर ले ले । यदि दुर्भाग्यसे कोई भी सम्बन्धी न हो तो नारद कहते हैं:

यदा तु नैव कश्चित् स्यात्, कन्या राजानमाव्रजेत् ।

यदि कोई न हो तो कन्या राजाके पास जाय—

इसका तात्पर्य यह है कि राज्यका यह कर्तव्य था कि इस बातका प्रबन्ध करे कि विवाहयोग्य लडकियोका विवाह हो जाय। वर्तमान-कालमें राज्यके अधिकारो और कर्तव्योके क्षेत्रका वहुत विस्तार हुआ है परन्तु इस कर्तव्यको किसीने नही अपनाया है। प्राचीन हिन्दू राज्य इस विपयमे वहुत आगे था।

कन्यादानसे पुण्यसचय होनेका विश्वास इतना दृढ है कि पिताके दान कर लेनेपर बहुतसे सम्वन्धी और ऐसे लोग भी जो दूसरे वर्ण और कुलके होते हैं उसको दान देते है। कमसे कम उत्तर भारतमे तो ऐसा कई जगह देखा जाता है। यह शका नही उठती कि एक बार दान की हुई वस्तुका फिर कैसे दान होगा।

दान करनेके पुण्यके साथ साथ दान न करनेके दण्डका भी वर्णन है। इससे निष्ठा और दृढ होती है। याज्ञवल्क्य कहते है:

अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ।

कन्याका दान न करने से, उसके प्रत्येक ऋतुकाल पर (पिताको) भ्रूणहत्याका पाप लगता है।

कन्यादानका जहाँ जहाँ विधान है वहाँ यह भी लिखा गया है कि कन्याको अपने वित्तके अनुसार सोना, चाँदी और अन्य बहुमूल्य द्रव्य देना चाहिए। दानके लिए जो सकल्प पढा जाता है वह इस प्रकार है। (यह संकल्प आनन्दाश्रम, पूनाकी छपी सस्कार पद्धतिसे लिया गया है)

अमुकप्रवरान्वितामुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्माऽहं मम समस्तपितॄणां निरतिशयसानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्याप्रतिपादनकल्पोक्तफलावाप्तयेऽनेन वरेणास्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसंतत्या द्वादशावरान् द्वादश परान् पुरुषान् पवित्रीकर्तुमात्मनश्च लक्ष्मीनारायणप्रीतये ब्राह्मविवाहविधिना कन्याप्रतिपादनं करिष्ये।

अमुक प्रवरान्वित अमुकगोत्रोत्पन्न अमुक (शर्मा वर्मा आदि वर्णानुसार) मै कन्यादान कल्पमे बतलाये गये निरतिशय सानन्द ब्रह्मलोकप्राप्ति आदि फलोको अपने सब पितरोको प्राप्त करानेके लिए इस वरसे इस कन्यामे उत्पन्न होनेवाली सततिके द्वारा बारह पर बारह अवर पुरुषोंको तथा अपनेको पवित्र करनेके लिए लक्ष्मीनारायणकी प्रीतिके लिए ब्राह्म-विवाह विधिसे इस कन्याका दान करता हूँ—

जब 'प्रतिगृह्णामि' कहकर वह अपनी स्वीकृति दे देता है तब दान-के अनुरूप दक्षिणा दी जाती है, क्योकि दक्षिणा बिना कोई शास्त्रसम्मत दान सम्पूर्ण नही होता।

विवाहके प्रसगमे शास्त्रोमे प्राय सर्वत्र कन्या शब्दका प्रयोग हुआ है। यह एक प्रकारका पारिभाषिक शब्द माना जाता है और दस वर्षकी अविवाहिता लडकीके लिए आता है। स्मृतियोमे कई जगह ऐसा स्पष्ट आदेश है कि इस वयसे आगे लड़कीका विवाह नही टलना चाहिए। इसके पहले विवाह हो जाना तो बहुत ही श्रेयस्कर है। लड़की यदि विवाहके पहले रजस्वला हो गई तो घरवालोंको महान् पातक लगता है। इसलिए कुछ विद्वानोका मत है कि विवाहके सम्बन्धमे सर्वत्र कन्या शब्द दस वर्षकी लडकीके लिए ही आया है। ऐसा मानना समीचीन नही प्रतीत होता। कुछ स्मृतिकारोंने निश्चय ही यह अर्थ लिया है परन्तु यह व्याख्या सर्वसम्मत नही है। बहुत छोटे वयमें विवाह कर देनेकी प्रथा अर्वाचीन प्रतीत होती है। मनुका परामर्श है कि:

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां, हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् (मनु० ९–९४)

तीस वर्षका वर बारहवर्षकी मनोहारिणी कन्यासे विवाह करे—

और वह यह भी आदेश देते है.

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत, कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ (९।९०)

ऋतुमती होनेके पश्चात् कुमारी तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यदि घरवाले तब भी उसका विवाह न करे तो योग्य पतिसे स्वयं विवाह कर ले—

इसका अर्थ तो यह हुआ कि सत्रह, अठारह वर्षके वय तकका विवाह तो मनुको भी सम्मत है। फिर नारदने जो यह आदेश किया है कि यदि घरवाले विवाह न करे तो कन्या राजाके पास जाय, यह आदेश भी दस वर्षकी लडकीके लिए नही हो सकता। इन बातोसे यह प्रतीत होता है कि साधारणत कोई भी अविवाहिता स्त्री कन्या कहलाती थी। इसका अपवाद वही स्त्रियाँ हो सकती थी जिन्होने किसी कारणसे तपश्चर्य्या और योगाभ्यासमे जीवन बितानेका संकल्प कर लिया हो। इसके कई उदाहरण है। महाभारतमे सुलभाका आख्यान है। उनकी तपोनिष्ठाका विलक्षण कारण है:

> साऽहं तस्मिन् कुले जाता, भर्त्तर्य्यसति मद्विधे।
> विनीता मोक्षधर्म्मेषु, चराम्येका मुनिव्रतम्॥

उस कुलमें उत्पन्न हुई मै अपने योग्य वरके न होनेसे मोक्षधर्म्ममे विनीत होकर अकेली मुनिव्रतका पालन करती हूँ—

ऐसी देवियोको जिनका विवाह होना ही नही है कन्या कहना निरर्थक है।

कन्याके बराबरका ही वर शब्द है। वर वह पुरुष हुआ जो वरण करता है या जिसका वरण किया जाता है। साधारण बोलचालमे दूल्हेको, उस पुरुषको जिसका विवाह होनेवाला है, वर कहते है।

यदि कन्या देय वस्तु है, यदि उसका दान करनेसे दाता और उसके कुलमें उत्पन्न और उत्पन्न होनेवाली पीढ़ियोको पुण्यसचय होता है, तो फिर इस दानसे अन्य दानकी भाँति कुछ और भी फल घटित होते होग। दान की हुई वस्तुका उपभोग नही हो सकता। दान की हुई गऊका दूध

ग्रहण करना पाप होगा। हाँ, यदि कोई बहुत बडी आवश्यकता पड जाय और गत्यन्तर न हो तो मूल्य देकर दूध काममे लाया जा सकता है। हिन्दू कन्याके प्रति ऐसा ही व्यवहार करता है। लड़कीके घरका अन्न-जल ग्रहण नही किया जाता, उसके घरकी कोई और वस्तु भी व्यवहारमें नही लायी जाती। यदि कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि कही औरसे कामकी वस्तु उपलब्ध नही हो सकती तो मूल्य देकर कन्याकी सम्पत्तिका उपयोग कर लेते है परन्तु मूल्य बाजारभावसे कही अधिक दिया जाता है। आदित्यपुराणमे आदेश है.

अप्रजायां तु कन्यायां, नाश्नीयात्तस्य वै गृहे ।
ब्रह्मदेया विशेषेण, नैव भोज्यं सदैव तु ॥

जब तक कन्याको सन्तान न हो जाय, तब तक उसके (जामाताके) घर नही खाना चाहिए। विशेषकर ब्राह्मविवाहमे दी गई लडकीके घर कभी नही खाना चाहिए।

सन्तान हो जानेके उपरान्त लडकीके घर खाना या उसकी अन्य वस्तु-का उपयोग करना उतना बुरा नही माना जाता। यह भी समझ लेना चाहिए कि सन्तानसे तात्पर्य यहाँ पुत्रसे है। हिन्दू दायविभागके अनुसार गर्भमे आनेके साथ ही लड़का पैतृक सम्पत्तिका भागी हो जाता है अतः पुत्रके जन्म होनेसे अब सम्पत्ति केवल लड़की जामाताकी नही रही, वरन् दौहित्र भी अशतः उसका स्वामी हो गया।

नाती, लडकीके लड़के—का पद बड़ा ऊँचा माना जाता है। वह पुत्रके समान ही नरकसे उद्धार करनेमे समर्थ होता है। पुत्रका तो नाम इसीलिए पड़ा है कि वह पुत् (अर्थात् नरक) से त्राण करता है। यों तो मनुष्य अपने कर्म्मोंके बलसे ही पुण्यपापका भागी होता है, पुत्र किसीकी क्या सहायता करेगा। और फिर सब पुत्र तो इस योग्य भी नही होते कि अपनेको सँभाल सकें। जैसा कि बोधायनीय गृह्य परिभाषामे लिखा है:

न मांसपेशलः पुत्रो, नाऽविद्वान्नाप्यकर्म्मकृत् ।
स्वयं न याति यः स्वर्गं, पितरं तारयेत्स किम् ॥

मासपिड पुत्र नही होता, न जो अविद्वान् और अधर्म्मचारी है वह पुत्र होता है । जो स्वय स्वर्ग नही जायगा, वह पिताको क्या तारेगा—

फिर भी पुत्रोत्पत्तिके लिए लोग बडे बडे यत्न करते है, न जाने कितने जपतप करते कराते है । कुछ नही होता तो दत्तक लेकर सन्तोष करते है ।

जिनको पुत्र नही होता वह नातीसे भी वैसी ही आशा रखते हैं, पुत्रके अभावमें नाती अपने नानाकी सम्पत्तिका स्वामी भी होता है । यदि अतिशयोक्ति न मानी जाय तो नातीका पद पुत्रसे भी बडा है—पुत्र तो पिताको ही संभालता है परन्तु नाती पचीस पीढियोतकका त्राण करता है ।

विवाहके प्रसगमे देनेकी बात एक और स्थलपर भी आती है । उसका कन्यादानसे कोई सम्बन्ध नही है परन्तु प्रसगत उसका भी उल्लेख कर देता हूँ । ऋग्वेद (१०–८५–४१) मे सूर्याके विवाहके प्रसगमे वर कहता है :

सोमो ददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वो दद्दग्नये ।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथा इमाम् ॥

इससे पहले वाला मन्त्र कहता है :

सोमः प्रथमो विविदे, गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि हे कन्या पहिले सोमने तुझे पाया, फिर गन्धर्वने । तेरा तीसरा पति अग्नि हुआ और चौथा पति मनुष्यकी सन्तान अर्थात् मनुष्य है ।

इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक स्त्रीके कई पति होते है या विवाहके पहिले देवगण कन्याका भोग करते है । यह तो घोर पापकी बात

होगी। यहाँ पतिका अर्थ पाता—रक्षक—ही हो सकता है। इस बातकी पुष्टि बादवाला मत्र करता है। उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कन्याके शैशव-कालमें सोम उसके रक्षक होते है, फिर वय बढ़नेपर वह इस भारको गन्धर्वको सौपते है। इसी प्रकार और बड़ी होनेपर गन्धर्व अग्निको यह काम सुपुर्द करते हैं। जब कन्या वयस्का होती है तो अग्नि वरको कन्या और कन्याके साथ पुत्र और धनसम्पत्ति देकर भारमुक्त होते है। यह मंत्र अब भी विवाह प्रकरणमें पढ़े जाते है।



तीसरा अध्याय

कन्यादानकी वैधता

संस्कारगणपतिके अनुसार ब्राह्मविवाह पञ्चाङ्ग होता है। पाँचों अंगोके नाम वाग्दान, प्रदान अर्थात् कन्यादान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी है। वाग्दानका अर्थ यह है कि कन्याका पिता यह वचन देता है कि दैवज्ञोके बतलाये शुभ दिनमें वह अपनी कन्याका अमुक वरसे विवाह कर देगा, वरका पिता भी इसी प्रकारका वचन देता है। विवाहके लिए जो दिन निश्चित हो चुका होता है उसके दो चार दिन पहिले वरके सम्बन्धी और मित्र कन्याके घर जाते है और कन्याके पितासे प्रार्थना करते है कि कन्याको अमुक वरको प्रदान कीजिये। इसका नाम वरण है। सब बात तो पहिलेसे निश्चित रहती है, प्रार्थना स्वीकार कर ही ली जाती है। पाणिग्रहण, कन्यादान और सप्तपदीसे सभी लोग परिचित हैं। पिछले अध्यायमें कन्यादानका आवश्यक वर्णन कर भी दिया गया है।

कन्यादान, पाणिग्रहण और सप्तपदीका तो आज भी चलन है परन्तु वाग्दान और वरणका वह रूप अब नही रहा। कमसे कम उत्तर भारतमें तो वरणका लोप सा हो गया है। वाग्दान है पर वह फलदान और तिलकमे अन्तर्भूत हो गया है; इनमें रुपयोकी लेन देनका महत्त्व अधिक है अन्य बातोका कम। कन्याका पिता तो कुछ वचन देता भी हो परन्तु यदि वरका पिता कोई प्रतिज्ञा करता है तो वह पुरोहितोके मुँहसे निकले श्लोकोमें ही रह जाती है। प्रसगागत वैदिक मन्त्र यदि पढे भी जाते है तो उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। फिर भी इन दोनों कृत्योका महत्त्व है। यह प्राचीन परम्परा और विचारो पर प्रकाश डालते है और इनसे शेष तीनों कृत्योको समझने और

उनकी मीमासा करनेमे सहायता मिलती है । विवाहको पञ्चाङ्ग कहनेसे यह बात निकलती है कि पाँचों अग सम्बद्ध है और एक दूसरेकी अपेक्षा करते है । पीछेका कोई भी अग हो, वह पूर्ववर्ती अंगोकी आधारशिला पर ही स्थित रह सकता है ।

कन्याका वरको दिया जाना कन्यादान है, यह तो हम देख चुके है । कभी कभी एक मित्र दूसरेको कोई वस्तु भेट कर देता है परन्तु ऐसी भेटका कोई धार्म्मिक महत्त्व नही होता । कन्यादानका धार्म्मिक महत्त्व है। मित्र भेट की हुई वस्तुको लौटा सकता है परन्तु दी हुई कन्या लौटाई नही जाती । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच कन्याका दान हो भी सकता है, क्या कन्यादान वैध दान है ? हम इस प्रश्नपर कई दृष्टियोसे विचार करेगे ।

यह तो मानी बात है कि उसी वस्तुका दान हो सकता है जो अपनी सम्पत्ति हो । सम्पत्ति हस्तान्तरण विधान (ट्रांस्फर आव प्रापर्टी ऐक्ट) कहता है कि 'यदि एक व्यक्तिके द्वारा जिसे दाता कहते है दूसरे व्यक्तिको जिसे आदाता कहते है कोई चल या अचल सम्पत्ति, इच्छापूर्वक और बिना किसी प्रत्युपकारकी आशाके, हस्तान्तरित की जाय तो इस हस्तान्तरणको दान कहते है।' अपनी टीकामे डी० एफ० मुल्ला कहते है कि आध्यात्मिक या नैतिक लाभकी आशासे किया गया हस्तान्तरण दान हो सकता है । इस विधानके अनुसार यदि अपना कोई ऐसा स्वत्व हो जो न्यायालयके सामने लाया जा सकता हो तो उसका भी दान हो सकता है । जैसे यदि किसी महाजनका किसी व्यक्ति पर रुपया बाकी हो तो वह इस ऋणका दान कर सकता है । इस विधानके अनुसार कन्याका दान तभी वैध हो सकता है जब वह या तो चल या अचल सम्पत्ति हो या न्यायालयके सामने लाने योग्य स्वत्व हो । यह स्पष्ट है कि कन्या इन दो मेंसे एक भी नही है । आजकलका विधान यह नही मानता कि कन्या पिताकी सम्पत्ति है, अत: कन्यादान अवैध है । परन्तु किसी प्राचीन प्रथाको आजकलके विचारोंकी

कसौटी पर कसना स्यात् न्याय्य न हो। इसलिए हमको यह देखना है कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस विषयमें क्या कहते है।

हेमाद्रि दानखण्डने देवलके इस वाक्यको उद्धृत करके दानके सच्चे स्वरूपको बतलाया है:

पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्।
केवलं त्यागबुद्धचा यत्, धर्म्मदानं तदुच्यते।।

धर्म्मदान वह है जो केवल त्याग बुद्धिसे प्रयोजनकी अपेक्षा न करके सत्पात्रोको दिया जाता है—

प्रयोजनकी व्याख्या है: दृष्टफलानुसन्धान। अदृष्ट फलकी आकाक्षा दानको दूषित नही करती। श्रीकृष्णने गीतामे कहा है:

दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।। (१७:२०)

उपयुक्त देश और कालमे, अनुपकारी (अर्थात् जिसे प्रत्युपकारकी आशा नही है) पात्रको 'देना कर्त्तव्य है' इस बुद्धिसे जो दिया जाता है वह सात्त्विक दान है—

इन अवतरणोसे शुद्ध दानके स्वरूपका, उसके अनुषगियोका, बोध तो होता है पर यह वैधानिक परिभाषाएँ नही है। गोविन्दानन्दने दानक्रिया-कौमुदीमे यह परिभाषा की है:

उद्देश्यगतस्वामित्वजनकत्यागो दानम्।

दान वह त्याग है जो युगपत् उद्दिष्ट (नामाङ्कित) व्यक्तिमें स्वामित्व उत्पन्न करता है—

इसका तात्पर्य यह है कि स्वामित्व दातासे आदातामें चला जाता है। वस्तुतः शब्दान्तरसे आजकलकी क़ानूनी व्याख्या इसीको दुहराती है।

तब फिर प्रश्न यहाँ पर आकर टिकता है कि क्या लड़की पिताकी सम्पत्ति है? क्या पिताका उसके शरीर पर स्वाम्य है? हम वशिष्ठ स्मृतिका वह वाक्य देख चुके है जिसमें वह कहते है कि मातापिताको

सन्तानको बेचने, दान करने या अन्य प्रकारसे त्याग देनेका पूर्ण अधिकार है। निश्चय ही कभी ऐसा माना जाता होगा। शुन शेफकी कथा वैदिककालकी है। उसके पिताने उसको हरिश्चन्द्रके हाथ अग्निको बलि देनेके लिए बेच दिया था। पीछेसे विश्वामित्रने उन्हें बचाया। इस अवसर पर विश्वामित्रने बहुत कड़ी भाषामें हरिश्चन्द्र और उनके पुरोहितकी भर्त्सना की और अग्निको भी बलिसे वंचित रहना पडा। सम्भवतः तभीसे नरबलि और सन्तानविक्रयकी प्रथा बन्द हो गई। बादको सन्तानका बेचना अवैध हो गया और बडे पातकोमे गिना जाने लगा। मनु कहते हैं :

न कन्यायाः पिता विद्वान्, गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णन् छुल्कं हि लोभेन, स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

विद्वान् पिता कन्याके लिए थोडासा भी शुल्क न ले। लोभवश शुल्क लेनेसे मनुष्य अपत्यविक्रयी—सन्तान बेचनेवाला—हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पिता अपनी लड़कीको बेच नही सकता, अतः वह उसके शरीरका स्वामी नही है। जब कन्या उसकी सम्पत्ति नहीं है तो उसका दान भी नही कर सकता।

सम्भव है इसपर यह आरोप उठाया जाय कि पिताका लड़की पर सीमित स्वत्व है वह उसको बेच नही सकता परन्तु पुण्यार्जनके लिए उसका दान कर सकता है। मान लीजिये कि यह तर्क ठीक है। तब कन्यादानके द्वारा पिता इस सीमित स्वत्वको अपने जामाताको हस्तान्तरित कर सकता है। उस अवस्थामें जामाताको यह अधिकार होगा कि इस स्वत्वको किसी अन्य व्यक्तिको हस्तान्तरित कर दे। परन्तु पत्नीका दान निषिद्ध है। प्राचीन साहित्यमे इसका स्यात् एक ही उदाहरण मिलता है। महाभारतमें यह कथा आयी है कि किसी राजाने जिसका नाम मित्ररुह, सौदास या कल्माषपाद था, अपनी पत्नी मदयन्तीको वशिष्ठको दानमें दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथा अर्थवादात्मक है और इसका उद्देश्य दानकी प्रशंसा करना है। स्त्री सर्वथा अदेय मानी जाती है और नारदस्मृतिके अनुसार

अदेयको देने और लेनेवालेको राजदण्ड लगता है। अत पतिको पत्नीपर ऐसा कोई स्वत्व नही है। दूसरे शब्दोमे उसको श्वसुरसे ऐसा कोई स्वत्व नही मिला। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पिताको कन्यापर ऐसा कोई स्वत्व—दान करनेका अधिकार—नही है। पिता अपनी लड़कीके शरीरका पूरा या आशिक स्वामी नहीं माना जा सकता। इसलिए कन्यादान वैध नही है। इस सम्बन्धमे श्रीकृष्णने महाभारतमे उल्लेख योग्य बात कही है। जब उनकी बहिन सुभद्राका अर्जुनके साथ विवाह हुआ तो उनके भाई बलदेव तथा अन्य लोगोने भी यह आपत्ति की कि विवाह सत्कुलोचित ब्राह्म ढगसे होना चाहिए था, इसपर श्रीकृष्णने कहा :

प्रदानमपि कन्यायाः, पशुवत् कोऽनुमन्यते।

पशुकी भाँति कन्याके दानका अनुमोदन कौन करता है—

इसका भी तात्पर्य स्पष्ट है कि पशु सम्पत्ति हो सकता है, कन्या नही।

दूसरे प्रकारसे विचार करके भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। जहाँ स्वाम्य होता है वहाँ उपभोज्यता भी होती है अर्थात् वस्तुका स्वामी यदि चाहे तो किसी न किसी प्रकार अपनी सम्पत्तिका उपभोग कर सकता है। प्रश्न यह है कि क्या पिताको कन्याके शरीर पर ऐसा कोई अधिकार है? यदि लड़की यावज्जीवन अविवाहिता रह जाय तो क्या पिता उसके शरीरका कोई वैध उपयोग कर सकता है? इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर यह है कि ऐसा नही हो सकता। तब फिर यह नही कहा जा सकता कि पिताको कन्याके शरीरपर किसी प्रकारका स्वाम्य है।

दूसरे प्रमाण भी हमको इसी ओर ले जाते है। स्मृतियों और तत्सम दूसरी पुस्तकोमें बार बार यह कहा गया है कि ब्राह्म विवाह उसी कन्यासे हो सकता है जो प्रत्ता या दत्ता हो। इसमे स्पष्ट ही कन्यादानकी ओर संकेत है। रत्नाकरके अनुसार '**प्रदानं स्वाम्यकारणम्। प्रदानेनैव कन्यायां वरस्य स्वाम्यं जायते दातुः स्वाम्यं निवर्तते**' प्रदान ही स्वाम्यका कारण है। प्रदानसे ही कन्यामें वरका स्वाम्य उत्पन्न होता है, दाताका स्वाम्य निवृत्त

होता है । यही बात यम कहते है : **नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते. . .अनुत्पादितस्वत्वायाः कन्यायाः पाणिग्रहणसंस्कारात् पतिः स्वामिस्वत्ववान्न'**—सकल्पपूर्वक कन्यादानके बिना यह (वर) कन्याका पति नही कहलाता. . . . यदि इस प्रकार कन्या पर स्वत्व न उत्पादित हो गया हो तो पाणिग्रहण संस्कारमात्रसे पति कन्याका स्वामी नही हो सकता—परन्तु हम पहिले देख चुके है कि पिता स्वय कन्याका स्वामी नही है अतः वह दूसरेको स्वाम्य कैसे हस्तान्तरित करेगा ? इसका तात्पर्य यह हुआ कि कन्यादानके द्वारा वरको कन्यापर कोई स्वत्व, कोई अधिकार, नहीं प्राप्त होता । इस दशामे कन्यादान निरर्थक कृत्य है ।

अन्य प्रकारसे भी इस मतकी पुष्टि होती है । यह स्मृतिसम्मत लोकाचार है कि यदि सप्तपदीके पहिले वरकी मृत्यु हो जाय तो कन्याका दूसरा विवाह हो सकता है । इतना ही नही, याज्ञवल्क्य तो यहाँ तक कहते हैं :

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्—

यदि पहिलेसे श्रेष्ठ वर मिल जाय, तो दी हुई कन्याको लौटा ले—

यह आदेश तो बहुत अच्छा है परन्तु इससे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं । स्वयं याज्ञवल्क्यने अन्यत्र कहा है :

सकृत्प्रदीयते कन्या, हरंस्तां चौरदण्डभाक् ।

कन्या एक बार दी जाती है, उसको हरनेसे चोरीका दण्ड लगता है—

यदि कन्यादानसे वर सचमुच कन्याका स्वामी हो जाता है तो फिर कन्याको हरनेवाला निश्चय ही चोर है । परन्तु उस दशामे पिता उसको लौटाकर दूसरे वरसे, चाहे वह कितना भी योग्य क्यो न हो, कैसे विवाह कर सकेगा ? और फिर सप्तपदीके पहले वरके मर जानेपर उसका दूसरा विवाह कैसे हो सकेगा ? कन्यादानके बाद वह वरकी सम्पत्ति हो गई और वरके मरनेपर वरके दायादोंकी, उसकी अन्य सम्पत्ति पर सत्ताधारियोंकी, सम्पत्ति हो गई । वह चाहे जो करें परन्तु पिताका उसपर

कोई अधिकार नही रहा। परन्तु स्मृतियोके स्पष्ट आदेश यह बतलाते है कि सप्तपदी तक पिताको अधिकार रहता है। अतः कन्यादानसे वरको कन्यापर स्वाम्य नही प्राप्त होता, अन्यथा यह मानना पडेगा कि श्वसुर अपने जामाताका दायाद होता है, जो धर्म्मशास्त्रके सर्वदा विरुद्ध है।

ऐसा नही समझना चाहिए कि प्राचीनकालमे किसीको इस सबंधमे शंका नही होती थी। पारस्कर गृह्यसूत्रके भाष्यमे कर्कने कन्यादानके प्रश्न पर सुन्दर विचार किया है। उनके तर्ककी तहमे वही सिद्धान्त है जिनके अनुसार आज भी सम्पत्तिका हस्तान्तरण होता है। वह कहते है :

> 'आदाय गृहीत्वेति चोभयं न वक्तव्यम्' उच्यते च तत्किमर्थम्।
> अप्रतिग्रहस्यापि प्रतिग्रहविधिना आदानं यथा स्यादिति।....
> स्वत्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादनं दानम्। न च कन्या कथ-
> ञ्चिदप्यस्वकन्या कर्तुं शक्यते, नापि परस्य कन्या भवति, विवाह-
> दुत्तरमपि ममेयं कन्येत्यभिधानात्। अत्र गौणो ददातिः॥

लेकर, ग्रहण करके, ऐसा नही कहना चाहिए। परन्तु कहा जाता है, वह क्यो ? इसलिए कि अप्रतिग्रहका भी प्रतिग्रहकी विधिसे आदान हो जाय। स्वत्वत्यागपूर्वक दूसरेमे स्वत्वका आपादन दान होता है। परन्तु कन्या कभी भी अस्वकन्या नही की जा सकती, न वह दूसरेकी कन्या होती है। विवाहके पीछे भी पिता उसको 'मेरी कन्या' कहता है। यह 'दान' शब्दका प्रयोग गौण है—

इसका अर्थ स्पष्ट है। कन्या सदा पिताकी लड़की रहती है, पतिकी लड़की नहीं होती। जो सम्बन्ध पिताका उसके साथ विवाहके पहिले था, वह पीछे भी बना रहता है। अतः न पिता किसी स्वत्वका त्याग करता है, न पति कोई स्वत्व प्राप्त करता है। इसलिए कन्यादान वास्तविक दान नही है। यो ही व्यवहारमें इसको दान कहते है। यह उस ढंगकी क्रिया है जिसको अंग्रेजी क़ानूनके शब्दोंमे 'लीगल फिकशन, वैधानिक अलीक, कहते हैं। ऐसे अलीकोंसे समाजमें बहुत काम लिया जाता है। जिन स्त्रियोका आजन्म

विवाह नहीं होता वह कभी कभी कुमारीपनका दोष मिटानेको पेड़से विवाह कर लेती हैं। कन्यादान भी ऐसा ही कृत्य है। लड़कीका पितृगृह छोड़कर पतिगृहमे रहना कल्पित दानके द्वारा वैध बना दिया गया है।

और भी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस प्रसगमे उठते है। यदि कोई व्यक्ति उस भावसे दान देता है जिसका उपदेश श्रीकृष्णने गीतामे किया है, यदि उसका स्वत्वत्याग शुद्ध दातव्यबुद्धिसे प्रेरित है, तब तो कुछ कहना नही है। वह अपने कर्तव्यका पालन कर चुका। यदि ऋतसत्यात्मक कर्म्मसिद्धान्तके अनुसार उसको इस कृत्यसे पुण्यकी उपलब्धि होती है तो वह उसको यदृच्छया ग्रहण कर लेगा। परन्तु यदि कोई वस्तु किसी फलविशेषकी आकाक्षासे दान की जाय, चाहे वह फल भौतिक या दृष्ट न भी हो, तो फिर कई उलझनें उठ खड़ी होती हैं। आदाताको भी वह शर्त स्वीकार होनी चाहिए। यदि दाता एक उद्देश्यसे दान करता है, आदाता किसी दूसरे उद्देश्यसे ग्रहण करता है तब तो कठिनाई होगी। दान समीचीन होगा ही नही। किसी महत्त्वपूर्ण शास्त्रसम्मत संस्कारकी पद्धतिमें ऐसी द्विविधाके लिए स्थान नही होना चाहिए परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कन्यादानके विषयमे गहिरा द्वैविध्य है।

दाताका उद्देश्य तो कन्यादानके सकल्पसे ही प्रकट हो जाता है। वह अपने लिए और अपने कुलके चौबीस अन्य व्यक्तियोके लिए नरकसे त्राण और स्वर्गमें अक्षय्य निवास चाहता है। परन्तु क्या आदाता भी कन्याको इसीलिए ग्रहण करता है? इसमें सन्देह है।

पहिली बात तो यह है कि वह अपने और अपने पूर्वजोके लिए ऐसी सुविधाएँ चाहता है, मरनेके उपरान्त ससुरालवालोंकी क्या गति होगी इसकी उसको विशेष चिन्ता नही है। फिर इस स्थलपर हमको वाग्दान और वरणकी ओर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि आजकल इनका महत्त्व पहिले जैसा नहीं है फिर भी विवाहके दूसरे अंगोंपर इनसे प्रकाश पडता है। इनमे आनेवाले मंत्रोंका अब भी थोड़ा बहुत उपयोग होता है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्रके अनुसार वरके सम्बन्धियोको चाहिए कि वरका नाम गोत्र आदि बतलाकर कन्याके पितासे कहे **'धर्मप्रजार्थं वृणीमहे'** और कन्याका पिता कहे **'दास्यामि।'** **'धर्म्मप्रजार्थं वृणीमहे'** का अर्थ हुआ: हम धर्मप्रजाके लिए वरण करते हैं, अर्थात् इसलिए कि इससे धर्म्मप्रजा हो, ऐसी सन्तति जो धर्म्मशास्त्रके अनुसार औरस हो अथवा जो स्वयं धर्म्मचारिणी हो। कन्याका पिता 'दूँगा' कहकर इस माँगको स्वीकार करता है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्रमे धर्म्मप्रजार्थकी जगह **'प्रजासहत्वकर्म्मभ्य.'** आया है। वरणके उपरान्त कन्याको कौषीतक गृह्यसूत्रके अनुसार यह आशीर्वाद दिया जाता है:

प्रजास्त्वयि दधामि, पशूंस्त्वयि दधामि, तेजो ब्रह्मवर्चस्यं त्वयि दधामि

तुझमे प्रजा (सन्तति) धारण करता हूँ, तुझमे पशु (अर्थात् धन) धारण करता हूँ, तुझमें ब्रह्मवर्चसतेज धारण करता हूँ—सकेत यह है कि विवाह के फलस्वरूप कन्याको यह वस्तुएँ प्राप्त होगी।

संस्कार पद्धतिके अनुसार, वाग्दानके समय कन्याका पिता कहता है:

वाचा दत्ता मया कन्या, पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया।
कन्यावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव॥

कन्यावलोकन विधिके द्वारा आपने अपने पुत्रके लिए मेरी वाग्दत्ता कन्याको स्वीकार किया है। आप सुखी हो। और वरका पिता कहता है:

वाचा दत्ता त्वया कन्या, पुत्रार्थं स्वीकृता मया।
वरवलोकनविधौ, निश्चितस्त्वं सुखी भव॥

आपने वरावलोकन विधिसे जो कन्याका वाग्दान किया उसे मैंने अपने पुत्रके लिए स्वीकार किया। आप सुखी हो।

अग्निवेश्य गृह्यसूत्रके अनुसार विवाहके अन्तमे वर कहता है: **अनया सह मया कर्म्माणि कर्तव्यानि। प्रजाश्चोत्पादयितव्याः, तदर्थं एनां परिणेष्ये।**

इसके साथ मुझे (वैदिक) कर्म्म करने हैं और प्रजा (सन्तान) भी उत्पन्न करनी है, इसलिए इससे विवाह करता हूँ—

वैदिक कर्म्म अर्थात् यज्ञ सस्त्रीक ही हो सकते है। तैत्तिरीय ब्राह्मणका स्पष्ट कहना है कि : **अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः**—जो पत्नीहीन है वह अयज्ञिय, यज्ञका अनधिकारी, है। इसीलिए वर कहता है कि मुझे इसके साथ कर्म्म करने है। यही बात ऋग्वेदके सूर्य्या विवाह प्रकरणमे कही गई है। वर कन्यासे कहता है कि तुम वीरसू और देवकामा, वीर पुत्रोकी माता और देवकार्य्यमे चित्त देनेवाली, बनो।

इस सारी बातचीतमे कही कन्याके पिताके कुटुम्बियोका चर्चा नही है। वरके हितके लिए विवाह हो रहा है। ताकि उसको सन्तान हो और वह यज्ञ कर सके। यज्ञ करनेका फल वरको ही मिल सकता है, उसके ससुराल-वालोको नही। कही भी पचमहायज्ञ या इष्टापूर्तके सकल्पमे यह बात नही कही जाती कि इस कृत्यका फल यजमानके श्वसुरको मिले। वर कन्याका हाथ पकड़ते समय पाणिग्रहणके अवसर पर कन्यासे कहता है :

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(ऋक् १०–८५–३६)

मै तेरा हाथ सौभाग्यके लिए पकड़ता हूँ जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धा हो (अर्थात् हम दोनों बहुत दिनो तक जियें)। भग, अर्य्यमा, सविता और पुरन्धि (पूषा) देवोने तुझे मुझको गार्हपत्यके लिए दिया है। इसलिए दिया है कि मै गृहपति बनूँ।

वरण और वाग्दानमे यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि वर कन्याको किसलिए चाहता है और कन्याके पितान उन शर्तोको स्वीकार किया है। उसने किसी स्थलपर दूसरी शर्त नही रक्खी, अपने या अपने पूर्वजोके हितका नाम नही लिया, नही तो सम्भव था कि वर पक्ष इस शर्तपर कन्याका ग्रहण न करता। अब सब बातोके तय हो जानेपर वह किसी नई शर्तका

प्रक्षेप नही कर सकता। वह यह नहीं कह सकता कि मैं इस कन्याको अपने कुलके कुछ व्यक्तियोके हितके लिए दे रहा हूँ। कन्यादानका संकल्प उन बातोके प्रतिकूल है जिनके आधारपर विवाह निश्चित हुआ था, अत. कन्यादान अवैध है।

प्राचीनकालमे ऐसा नही था। आज जो उद्देश्य सकल्पमे बताया जाता है वह पीछेसे जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। कन्यादानके पुराने सकल्पका रूप वैखानसगृह्यसूत्रमे मिलता है। उसके अनुसार कन्याका पिता कन्या इसलिए देता है——'**अस्य सहधर्म्मचारिणी भवतीति ब्राह्मे विवाहे धर्म्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं**'—इसकी सह-धर्म्मचारिणी हो इसलिए ब्राह्मविवाहमें धर्म्मप्रजाकी उत्पत्तिके लिए, यज्ञ सम्पादनके लिए और ईश्वर, देवगण, ऋषि गण और पितृगणकी तृप्तिके लिए, (वरको कन्या देता है)। यह सकल्प परिपूर्ण है और सर्वथा वेदसम्मत है तथा वरण, वाग्दान और पाणिग्रहणमे जो सिद्धान्त अन्तर्हित हैं उनके अनुकूल हैं।

इन सब वातोको ध्यानमे रखते हुए डाक्टर आल्टेकरने 'दि पोजिशन आव विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन' मे जो यह मत प्रकट किया है वह ठीक प्रतीत होता है:

यह बतला देना चाहिए कि कन्याका दान उपचारमात्र था: 'उससे पतिको यह अधिकार नही मिलता था कि पत्नीसे चाहे जैसा बर्ताव करे। जिस वस्तुको मनुष्य यज्ञाग्निके सामने पवित्र दानके रूपमे प्राप्त करता है वह वस्तुतः ऐसी थाती है जिसके समुचित प्रतिपालनके लिए वह ईश्वरके प्रति दायी है।' सच बात तो यह है कि न केवल पति वरन् दम्पती अपने ऊपर एक पवित्र कर्तव्य लेते हैं। वह यह संकल्प तो करते नही कि हम वधूके पिता और उनकी आगे पीछेकी पीढ़ियोंको पापोंके दण्डसे मुक्त करा देंगे, हाँ उन कर्म्मोका व्रत लेते हैं जो प्रत्येक गृहस्थके लिए करणीय है। ऐसे कर्म्मोंका याज्ञवल्क्य स्मृतिके पञ्चम अध्यायमे विशद वर्णन है और, कालोचित व्याख्याके साथ, उनका महत्त्व आज भी उतना ही है।

थोडी देरके लिए हम कन्यादानकी वैधताके प्रश्नको छोड देते हैं और इस बात पर विचार करेंगे कि उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

ऐसा माना जाता है कि कन्यादानसे वर कन्याका स्वामी बन जाता है, हम इस मतकी आलोचना कर चुके है और यह दिखला चुके है कि वर कभी भी कन्याका स्वामी नही होता। इस दृष्टिसे तो कन्यादान निरर्थक है। अब यदि यह निश्चय हो कि वरकन्याको पति पत्नी बनानेमे कन्यादानका कोई उपयोग हो तब भी उसकी सार्थकता हो सकती है। वर कन्यामें पतित्व और पत्नीत्व किस क्षणमे आता है इस सम्बन्धमे शास्त्रोका एकमत नही देख पड़ता। द्राह्यायण गृह्यसूत्रकी वृत्तिमे वरणका वर्णन करते हुए रुद्रस्कन्दने **'पत्युर्ज्ञातयः'**—पतिके जातिवाले—प्रयोग किया है। यह लोग 'वध्वा'—वधूके—घर जाते हैं। कन्यादान होनेके पहले ही पति और वधू शब्दोका व्यवहार विचित्र है। इससे इतना तो प्रतीत होता है कि सामान्य बोलचालमे ऐसा प्रयोग हो जाता था।

एक और विचारणीय बात है। यदि यह मान भी लिया जाय कि कन्यादानसे किसी प्रकारके स्वत्वका उत्पादन होता है तो यह काम एकांगी होगा। वरको तो कन्या पर अधिकार मिला परन्तु कन्याको क्या मिला? उसके लिए 'अधिकार' शब्दका व्यवहार उतना ही उचित होगा जितना कि पाले हुए पशुके लिए। यदि यह माना जाय कि गाय बकरीको अपने स्वामीसे भरण पोषण पानेका अधिकार है तो इतना अधिकार पत्नीको भी वरसे होगा। इसीलिए वह भार्य्या कहलाती भी है। एक अन्तर है। भेड़ बकरीको सबकुछ चुपचाप सहना पड़ता है, भार्य्या रोटी कपड़ेके लिए न्यायालयके द्वार खटखटा सकती है।

विवाहका समानार्थक उद्वाह है। इन शब्दोका व्यवहार शिक्षित अशिक्षित, बाल, वृद्ध, सभी करते है और इनका अर्थ भी सुबोध, सबका जाना हुआ, है। परन्तु जो वस्तु सामान्य मनुष्यको सुबोध लगतो है उसीमे कभी कभी विद्वानोको शका हो जाती है। साधारण मनुष्य ऐसा मानता

है कि विवाह वह कृत्य या उपचार है जिसके परिणामस्वरूप स्त्री विशेष पुरुष विशेषकी पत्नी और वह पुरुष उसका पति हो जाता है। स्मृतितत्वम्के अनुसार **भार्य्यात्वसम्पादक ग्रहण विवाह** '—भार्य्यात्व (और अर्थापत्तिसे पतित्व) सम्पादक ग्रहणको विवाह कहते हैं। यह परिभाषा तो बोलचालके अनुकूल ही है परन्तु इसमें ग्रहणशब्द विचारणीय है। ग्रहणसे यह ध्वनि निकलती है, किसीसे ग्रहण, किसीसे स्वीकृति या प्राप्ति। विवाहके लिए यह आवश्यक होगा कि कोई किसीसे कुछ ले। विवाहकी समूची पद्धतिमें देने लेनेकी बात वरण वाग्दान और कन्यादानमे देखी जाती है। कन्यादान प्रकरणमे वरको प्रतिग्रहीता कहा भी जाता है। तो क्या इससे यह मान लिया जा सकता है कि कन्यादानपर विवाह सम्पूर्ण हो जाता है अर्थात् पाणिग्रहण और सप्तपदीके पहिले ही सम्पन्न हो जाता है ? इस कल्पनाका समर्थन एक अप्रत्याशित स्थलसे मिलता है। हरिवंश महाभारतका पूरक ग्रन्थ माना जाता है और पूज्य दृष्टिसे देखा जाता है। लोगोको ऐसा विश्वास है कि उसको पढने और सुनने तथा उसकी प्रति ब्राह्मणको देनेसे नि सन्तानोको भी सन्ततिलाभ होता है। उसमें त्रिशंकु उपाख्यान नामकी कथा आई है। इसका सक्षिप्त कथानक यह है कि राजा त्रय्यारुणके लड़के सत्यव्रतने किसी लडकीको विवाहमण्डपसे हर लिया। उसके इस कृत्यसे रुष्ट होकर पिताने घरसे निकाल दिया और जगलमे श्वपचोंके साथ रहनेका आदेश दिया। अन्तमे विश्वामित्रकी सेवासे उसके पापका प्रायश्चित्त हुआ। सत्यव्रतके इस निन्दनीय कार्य्यका वर्णन इन शब्दोमे किया गया है .

पाणिग्रहणमन्त्राणां, विघ्नं चक्रे स दुर्मतिः ।
येन भार्य्या हृता पूर्व, कृतोद्वाहा परस्य वै ॥

उस दुर्मतिने जिसने पहिलेसे उद्वाह की हुई दूसरेकी भार्य्याको हर लिया था पाणिग्रहण मंत्रोमे विघ्न डाला—

इस श्लोकको भाषा अद्भुत है। हरिवंश जैसी प्रशस्त पुस्तकमे आनेसे

विचारको और भी खीचती है। एक स्त्री किसीकी भार्य्या थी। इतना कहना ही पर्य्याप्त था परन्तु कृतोद्वाहा (उद्वाह की हुई, विवाहिता) कहकर उस बातकी और पुष्टि कर दी गई। विवाहिता भार्य्या कहना वैसा ही है, जैसे आजकल पत्नीकी जगह धर्मपत्नी कहनेका चलन बढ़ गया है। अस्तु, जब भार्य्या हरी गई तो विवाहके पीछे ही ऐसा हुआ होगा। परन्तु यहाँ कहा गया है कि पाणिग्रहण मन्त्रोमे विघ्न डाला गया, पाणिग्रहण नही होने पाया। तो फिर क्या पाणिग्रहणके पहिले ही स्त्री भार्य्या हो जाती है और विवाह पूरा हो जाता है? यदि ऐसा होता है तो फिर पाणिग्रहण और सप्तपदीका उपयोग क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह शब्दके शास्त्रीय अर्थमे काल पाकर कुछ परिवर्तन हुआ है। स्मृतितत्त्वम्के अनुसार **विवाहस्तु पाणिग्रहणात्पूर्व वृत्त एव**—विवाह तो पाणिग्रहणके पूर्व ही हो चुकता है। यह वाक्य हरिवंशमे दिये हुए प्रयोगके अनुसार है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिग्रहणके पूर्वके तीनों कृत्यो—वरण, वाग्दान और कन्यादान—के समुच्चयको किसी समय विवाह कहते थे। परन्तु यह नही पता चलता कि पाणिग्रहण और सप्तपदीका कोई सयुक्त नाम था या नही। यह भी ज्ञात नही होता कि सम्पूर्ण कृत्यको क्या कहते थे। यह तो स्पष्ट ही है कि विवाह शब्दका यह प्रयोग सस्कारगणपतिके इस कथनके सर्वथा प्रतिकूल है:

वाग्दानं च प्रदानं च, वरणं पाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पञ्चाङ्गो विवाहः परिकीर्तितः॥

विवाह पंचाग कहलाता है। उसके यह अंग है: वाग्दान, प्रदान, (कन्यादान), वरण, पाणिपीड़न (पाणिग्रहण) और सप्तपदी।

इसी प्रकार मनुने एक जगह विवाह शब्दका भ्रमोत्पादक प्रयोग किया है। वह कहते है: **स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे**—नारी विवाहसे सातवें पद पर अपने गोत्रसे पृथक् होती है—अर्थात् पतिके

गोत्रमें मिल जाती है। 'विवाहसे सातवें पद पर'का कुछ ठीक अर्थ नही लगता। सातवाँ पद तो सप्तपदीका अन्तिम पद हुआ। यदि यह विवाहसे सातवाँ पद है, तो फिर विवाह किसको कहते है? क्या पाणिग्रहणकी समाप्तिका नाम विवाह है? यह भी बोलचालका ढीला प्रयोग है, शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिसे ठीक नही है।

यह प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सप्तपदीके अन्तिम पद पर विवाह-की विधि पूरी होती है। स्मृतितत्त्वम्के अनुसार **कृत्स्नं हि जायापतित्वं सप्तमे पदे**—सम्पूर्ण जायापतित्व (पति-पत्नीसम्बन्ध) सप्तमपदपर (उत्पन्न होता है या सम्पन्न होता है)। मनु भी कहते है:

पाणिग्रहणिका मन्त्राः, नियत दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया, विद्वद्भिः सप्तमे पदे।।

पाणिग्रहणके मत्र निश्चय ही पत्नीत्वके लक्षण है। विद्वान् लोग जानते है कि उनकी निष्ठा (उनकी समाप्ति) सप्तमपदपर होती है—

इसी बातको यम भी कहते है:

नोदकेन न वा वाचा, कन्याया. पतिरिष्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात्, पतित्वं सप्तमे पदे।।

उदक (कन्यादान) या वाग्दानसे कन्याका पति नहीं कहलाता। पतित्व पाणिग्रहण सस्कारसे सातवे पदपर होता है—

यहाँ 'पाणिग्रहण संस्कारसे' कहना कुछ अनावश्यक सा प्रतीत होता है और भ्रामक भी हो सकता है। सप्तमपद तो सप्तपदीका अग है मनुस्मृतिके भाष्यमे कुल्लूकभट्टने इसके पहले दिये श्लोकके 'पाणिग्रहणिका-मंत्राः' (पाणिग्रहणके मत्र) की व्याख्या वैवाहिक मंत्र किया है। उनका तात्पर्य है कि ऐसे स्थलोमे विवाहकी जगह पाणिग्रहण लिख दिया गया है। यही बात यमस्मृतिसे उद्धृत श्लोकके लिए भी लागू है।

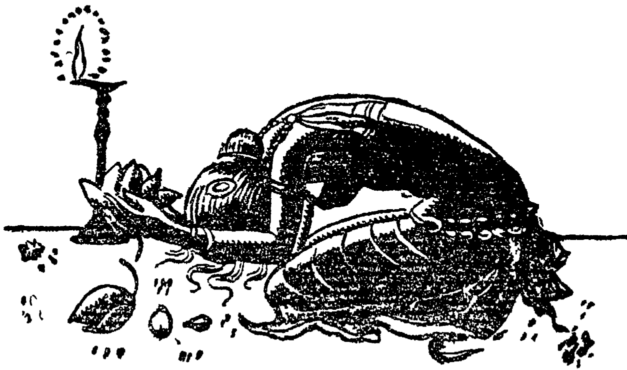
इन सब बातोसे यह सिद्ध होता है कि पति पत्नी सम्बन्ध सप्तपदीके अन्तिम पद पर स्थापित होता है। इसके पहले जो कुछ होता है वह

प्रस्तावनामात्र है। आधुनिक व्यवहार भी यही है, न्यायालय भी इसी बातको मानते हैं। सम्पत्ति सम्बन्धी बहुतसे अभियोगोंकी सफलता असफलता इसी बातपर टिकती है कि सप्तपदी यथावत् हुई या नही। यदि इसमें कुछ भी त्रुटि प्रमाणित हुई तो ऐसा माना जायगा कि विवाह हुआ ही नहीं।

कभी कभी ऐसा कहा जाता है कि कन्या तो सप्तपदीके बाद ही भार्य्या होती है परन्तु वर कन्यादानके साथ ही उसका स्वामी हो जाता है। पर यह पक्ष तो सर्वथा अमान्य है। पहले तो मैं यह दिखला आया हूँ कि कोई व्यक्ति स्त्रीके शरीरका कभी भी स्वामी नही हो सकता। दूसरे, यह प्रश्न उठता है कि कन्यादान और सप्तपदीके बीचमे वैधानिक अवस्था क्या है? वर स्वामी है पर पति नही है, कन्या सम्पत्ति है परन्तु पत्नी नहीं है। क्या वास्तविक स्थिति ऐसी ही है? मान लीजिए कि कन्यादानके बाद ही कोई वर उठ खड़ा हो और शेष कृत्य रोक दे तो क्या होगा। स्त्री उसकी भार्य्या तो हुई नही, इसलिए उसको पत्नीके अधिकार प्राप्त नही हुए। वह वरकी सम्पत्ति हो गई। उसको इस बन्धनसे छुड़ानेकी कोई विधि शास्त्रोंमे नही दी है। तो क्या वर उसको अपने घर क्रीत दासीकी भाँति ले जा सकता है? यदि '**प्रदानःस्वाम्यकारणम्**' का सिद्धान्त ठीक है तो उसको ऐसा अधिकार होना चाहिए। परन्तु यह तो शास्त्रोंका उद्देश्य नही हो सकता। देव, ऋषि, पितृगण इसलिए तो नहीं पुकारे जाते कि किसी पुरुषके हाथमे दासी, या गाय बकरीकी भाँति सम्पत्तिके रूपमे एक निरीह अबला सौप दी जाय। इसका बचाव यों कहकर नहीं किया जा सकता कि वर कन्यादान पर केवल स्वामी होता है, पति सप्तपदी पर होता है, परन्तु कन्या कन्यादानके साथ ही पत्नी हो जाती है। **भार्य्यात्वानुनिष्पादि पतित्वम्**—भार्य्यात्वके साथ ही पतित्व निष्पन्न होता है। यहाँ 'अनु' का अर्थ क्षणान्तर नहीं प्रत्युत युगपत् ही करना होगा। पति और पत्नी, भर्ता और भार्य्या, अन्योन्याश्रित है, इनमे अन्वयव्यतिरेकी सम्बन्ध है। जहाँ एक होगा, वहाँ दूसरा होगा। न बिना भार्य्याके भर्ता हो सकता

है, न बिना भर्ताके भार्य्या हो सकती है। अतः कन्यादान यह नही कर सकता कि वरको स्वामी तो वना दे पर कन्याको भार्या न बनाये। परन्तु जब यह स्पष्ट है कि कन्या सप्तपदीके अन्तिम पद पर ही भार्य्या होती है तो वर भी उसी समय भर्ता होता होगा। कन्यादानसे वरको कोई अधिकार नही प्राप्त होता।

इन सब तर्कोंसे यह स्पष्ट है कि कन्यादानसे न किसी स्वत्वका सर्जन होता है न विसर्जन और न हस्तान्तरण। कन्यादानके पूर्व और पश्चात् वर और कन्याके परस्पर सम्बन्धमे कोई अन्तर नही पडता, उनमें कोई नया सम्बन्ध स्थापित नही होता। यदि कन्यादान इस उद्देश्यसे किया जाता हो कि पिता और उसके पूर्व तथा परवर्ती कुटुम्बियोंको अपने पापोसे छुटकारा पानेका सस्ता उपाय हाथ लग जाय तो इस उद्देश्यकी सिद्धि नही हो सकती। यदि कन्यादानके यही अभिप्राय है तो वह निष्फल क्रिया है और किसी प्रकारकी हानिकी आशकाके बिना विवाहकी पद्धतिसे निकाली जा सकती है।



चौथा अध्याय

कन्यादानका वास्तविक भाव

तीसरे अध्यायको पढनेके बाद सम्भव है ऐसा प्रतीत हो कि मैं कन्यादानको व्यर्थ समझता हूँ और यह चाहता हूँ कि विवाहकी पद्धतिमेंसे उसे निकाल दिया जाय। वस्तुत. मेरा यह अभिप्राय नहीं है। मेरी शिकायत यह हैकि हम कन्यादानके वास्तविक भावको भूल गये हैं। मेरा अभियोग यह है कि हिन्दू समाजके सहज नेताओं, हमारे ब्राह्मणोंने हमारे बहुतसे कृत्यों और संस्कारोंको, जिनमेंसे कन्यादान भी एक है, तमाशा बना डाला है। कुछ थोड़ेसे वैदिकमन्त्रोंमें बहुतसे नये अनुष्टुप् श्लोक मिला दिये गये, यज्ञ जो मुख्य कृत्य था एक कोनेमें डाल दिया गया, वैदिक देवताओंको पौराणिक देव-देवियोंने दबा लिया—इस प्रकार समूचा रूप ही बदल जाता है। आर्य्यजातिके पूर्व पुरुषों, ऋषियों और मनुओंका उद्देश्य लुप्तप्राय हो जाता है और उनकी जगह क्षुद्र भावनाएं बैठा दी जाती हैं। आज हिन्दू विवाह पद्धति नीरस हो गई है और उससे जी ऊब उठता है। उभय पक्षके पुरोहित न जाने क्या पढ़ते हैं जिसका वर कन्यासे कोई सम्बन्ध नहीं देख पड़ता, कुछ वाक्योंका अनुवाद मातृभाषामें कर भी दिया गया तो ऐसा करनेका ढंग प्रभावोत्पादक नहीं होता।

मेरा आक्षेप संस्कृत भाषा पर नहीं है। मेरी राय है कि संस्कृतका ही व्यवहार होना चाहिए अन्यथा हिन्दू विवाहमें संस्कारका रूप ही न रह जायगा। प्रदेश प्रदेश वर्ण वर्णकी अलग भाषा होकर विवाह साधारण व्यापारी इकरारनामों जैसी चीज़ बन जायगा। लैटिन भाषाका प्रयोग पृथ्वीभरके रोमन कैथलिक करते हैं परन्तु अपने संस्कारोंके गाम्भीर्यको

नही बिगडने देते । आवश्यकता इस बातकी है कि पुरोहित वर्ग, और उससे भी पहले हमारा पण्डित समाज, स्वयं विवाहके अगोंके भेदको समझे और फिर विवाहकालमे वरकन्याको समझाये ।

मेरी समझमे कन्यादानका महत्त्व बहुत बड़ा है । हम देख चुके हैं कि विवाह पञ्चाङ्ग है । पहिलेके दो अंगोमे वरकन्याके अभिभावकों और दूसरे गुरुजनोमे बातचीत हुई है । उन्होने सब बातोको देखकर सम्बन्ध स्थिर किया है । ऐसा मानना चाहिए कि भावी दम्पतीको इन बातोका पता होगा परन्तु अब तक प्रत्यक्षरूपसे उनका काम नही पड़ा । यह बात अब तीसरे अग, कन्यादान, मे होती है । वर और कन्याका एक दूसरेसे परिचय होता है । परन्तु केवल इतनी बात नही है । परिचयके साथ-साथ कन्याका पिता वरसे यह प्रार्थना करता है कि आप इस कन्याको ले लीजिए और वर इस प्रार्थनाको स्वीकार करता है । यही प्रतिग्रह है । परन्तु प्रतिग्रह—कन्याको देने और लेने—का उद्देश्य वह नही है जो आज लोकमे प्रचलित है । पिताका कन्या पर कोई स्वत्व नही है जिसे वह वरको हस्तान्तरित कर सकता हो । यह भी नही है कि लड़की उसके लिए भार हो गई है, वह इस बोझको दूसरेके कन्धोंपर फेकना चाहता है । बात दूसरी ही है । कन्याका पिता वरको अधिकार नही वरन् कर्तव्य सौपना चाहता है । देने लेनेका इस प्रसङ्गमे यही अर्थ है । अब तक उसने लड़कीका भरणपोषण किया और उसको ऐसी दैहिक और बौद्धिक शिक्षा दी कि वह समाजमे अपने यथोचित स्थानको प्राप्त कर सके । स्थानको प्राप्त करना तभी पूरा होता है जब उस स्थानके उपयुक्त कर्तव्योका पालन किया जा सके, नही तो ऊँचेसे ऊँचे स्थानसे भी स्खलन होता है । अब वयस्का होने पर लड़कीको जिन कर्तव्योका वहन करना है वह पतिके साथ ही उठाये जा सकते है । जिस दिनके लिए पिताने कन्याको पाला था, वह दिन आया । यह उसका सौभाग्य है कि वह उसके लिए योग्य वर, अनुरूप जीवनसंगी ढूँढ सका । अब वह उन दोनोको धर्म्मकी दुर्गम घाटीमें प्रवेश

करनेका, आह्वान करता है। सचमुच धर्म्मका पथ '**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**'—छुरेकी पतली तीखी धार है। कभी कभी पारिजातकी मधुर गन्ध भी आ जाती है परन्तु कर्तव्यका पालन करना काँटोकी सेज पर सोनेके समान है। वरकन्याको अब इस पथका पथिक बनना है। कन्या-दानमें उनको इसकी सूचना दी जाती है। अवतकका उनका जीवन इसके लिए तैयार था। कन्यादान दान नही समर्पण है। कन्या समर्पित की जाती है परन्तु वरकी सेवाके लिए नही, वरके माध्यमसे सनातन, शाश्वत, धर्म्मकी सेवाके लिए।

दम्पतीका पहिला कर्तव्य गृहस्थाश्रमको अक्षुण्ण रखना है। स्त्री और पुरुषका रतिसम्बन्ध तो पशु पक्षियोके ढग पर भी हो सकता है। वासनासे प्रेरित होकर मिल जाना और फिर अलग हो जाना सम्भव है परन्तु इस आधार पर समाज नही टिक सकता। बडे पशुपक्षी तकमे कौटुम्बिक जीवनका सरलरूप विद्यमान है, बर्बर मनुष्य भी कुटुम्ब बना कर रहता है। और जहाँ कुटुम्ब है, वहाँ कर्तव्योकी शृंखला है। और स्वेच्छाचारिता पर अकुश है। मनु कहते हैः

यथा वायुं समाश्रित्य, वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
ऋषयः पितरो देवा, भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यः, तेभ्यः कार्य्यं विजानता॥

जैसे सब प्राणी वायुके आश्रित होकर जीते हैं, इसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थके आश्रित होकर जीते है। ऋषि, पितृ, देव, इतर प्राणी, अतिथि सब कुटुम्बियोसे आशा रखते हैं। ज्ञानीको उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए—

जंगली अवस्थामे जहाँ सब केवल अपने लिए जीते हों मनुष्य चाहे जैसे रह ले परन्तु समाजमें तो सबका सबसे सम्बन्ध है। यदि समाजको उन्नत रखना है तो विद्यार्थियोंके लिए, श्रमिकोंके लिए, सैनिकोके लिए, विद्वानोके

लिए, धर्म्माचार्य्योंके लिए, रोगियोके लिए, वृद्धोके लिए भोजनादिकी व्यवस्था करनी होगी, जो छोटा है उसको कर्तव्य सिखाना होगा, जो सेवा करके श्रान्त हो गया हो उसको आराम करने देना होगा। यह सब तभी होगा जब सब लोग अपने नागरिक कर्तव्योको पहिचाने और उनका पालन करे। नागरिक पर ही समाज अवलम्बित है। आजकलकी भाषामें मनुके कथनका यही अर्थ है। घरमें रहनेसे गृहस्थ नही होता—गृहीके कर्तव्योंका पालन करनेवाला ही गृहस्थ है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणके अनुसार 'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः'—पत्नीहीन पुरुष यज्ञका अधिकारी नहीं होता। रामचन्द्रजीको सीताकी स्वर्णप्रतिमा बैठानी पडी थी। यज्ञ केवल उस कृत्यको नही कहते जिसमे मन्त्र पढ़कर आगमे आहुति डाली जाती है। जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धिसे किया जाय वह यज्ञ हो सकता है परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाय। भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायमे यज्ञके कई प्रकार गिनाये गये है। यज्ञ तभी सम्पूर्ण होता है जब बलि दी जाय, निरीह पशुओकी नहीं वरन् अपने अधम स्व की, अपनी काम, क्रोध, लोभमयी प्रवृत्तियोकी। इस बलिसे जो शक्ति उत्पन्न होती है वही यज्ञको सम्पन्न कराती है। वेद कहते हैं कि सृष्टिके आरम्भमें जीवोंके कल्याणके लिए देवोंने यज्ञ किया था। यह विश्व शिव-शक्तिका महायज्ञ है, इसलिए यज्ञमें पतिपत्नीका योग होना ही चाहिए। दो शरीर परन्तु चित्त एक, सकल्प एक, लक्ष्य एक—तभी यज्ञ पूरा उतरता है। जहाँ तक यज्ञ दृष्टिसे ससारी कामोंके करनेकी बात है, यह कौन नही जानता कि स्त्री ऐसे कामोमे अमूल्य सहायता दे सकती है। कान्तासम्मित रूपसे, प्रेमसे, भर्त्सना करती है, परामर्श देती है, उत्साह बढाती है, चिन्ता बॉट लेती है। स्त्रीका जीवन त्याग और तपस्याकी कहानी है, वह पुरुषको भी मूकभाषामें यह पाठ पढ़ाती है। इसीलिए स्त्रीको सहधर्म्मिणी कहते हैं। न तो पुरुषके बिना स्त्री समीचीन रूपसे कर्तव्यपथ पर आरूढ़ हो सकती है, न स्त्रीके बिना पुरुष।

प्राचीन कालमें जब स्नातक विद्या प्राप्त करके गुरुकुलसे विदा होने लगता था तो उसको अन्य बातोंके साथ गुरु यह आदेश भी देता था **'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेसी:'**—प्रजातन्तु, सन्तानोत्पादनके क्रमको, मत काटो, जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज सन्तति छोड गये वैसे तुम भी छोड जाओ। हम पहिले दिखला चुके हैं कि पत्नी और सन्तानके बिना पुरुष तथा पति और सन्तानके बिना स्त्री अकृत्स्न—अपूर्ण—है। मनुष्यके कई ऐसे गुण हैं जो समाजकी व्यवस्थाके लिए नितान्त आवश्यक हैं परन्तु उनका विकास एकाकी नही हो सकता, कुटुम्बके भीतर रह कर ही उनके पनपनेका अवसर मिलता है। सबसे अलग रहकर उदारताका अभ्यास नही हो सकता। दूसरोंके लिए अपने सुखको छोड देना, दुर्बलोकी शुश्रूषा करना, अशक्तोंको शक्त बनाना, जो कुछ हो बाँटकर भोगना—इनकी शिक्षा गृहस्थीमें ही मिलती है। आजकल यह भाव बढ रहा है कि विवाह हो पर सन्तान न हो। यह भाव समाजके लिए घातक होगा। एक और बात है। दम्पतीको प्रजापति और जगद्धात्रीका काम करना है,। परमात्मा जीवोंकी सृष्टि नही करता, अभावसे भाव नही उत्पन्न करता, न वह लीलाके लिए, खेल देखनेके लिए, जगत्का निर्माण करता है। जीव अनादि हैं। उनको अपने कर्म्मोंके संस्कारोके अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त करने हैं। फलभोगके अनुकूल जगत् बने बिना रह नही सकता। परमात्मा निमित्तमात्र है। न जाने कितने शरीरोमे भ्रमण करके किसी जीवके मनुष्य शरीरमें आनेका योग उत्पन्न होता है। ऐसे शरीरको बननेके लिए दम्पतीका, पितामाता बननेको प्रस्तुत पुरुष और स्त्रीका, होना अनिवार्य है। इनकी सहायताके बिना जीवको मनुष्य-शरीर नहीं मिल सकता। पितृत्व—बाप-माँ होना—आकस्मिक घटना नही है, वह तो बहुत बड़ा दायित्व है जो इच्छापूर्वक अपने ऊपर लिया जाता है। बच्चेके प्रसवसे ही दायित्व समाप्त नही होता—उसकी ऐसी शिक्षादीक्षा करनी है जिससे न केवल यह जन्म प्रत्युत आगे के लिए भी उसका जीवन सुधरे। मातापिताको यह समझना है कि

भगवान्‌ने हमारा बहुत बड़ा विश्वास करके हमको यह थाती सौंपी है—हमारा धर्म्म है कि इसे उन्नत बनाकर तब लौटायें । पिता अपने क्षेत्रमें प्रजापति, माता आद्याशक्ति है ।

और फिर स्त्रीको इस प्रकार जीवन निर्वाह करना है कि न केवल उसको प्रत्युत उसके पतिको परम पुरुषार्थ, जीवनका चरम ध्येय, मोक्ष प्राप्त हो । दुर्गासप्तशतीके अर्गलास्तोत्रमे पत्नीको **'तारिणीं दुर्गसंसार-सागरस्य'**—दुस्तर संसारसागरसे पार उतारनेवाली—कहा है । सती इस जगत्‌मे ब्रह्माकी उत्कृष्टतम रचना है, वह भगवती पार्वतीका स्वरूप है, पति, सन्तति, कुल, राष्ट्रको पुनीत करनेवाली धर्म्मकी चल प्रतिमा है; पतिके लिए इस लोक और परलोकका सम्बल है; उसके चरणों पर देवोंके भी सिर झुकते है ।

इन्ही कर्तव्योके पालन करनेके लिए पिताने लडकीको अपने घर पर तैयार किया था । पितामाताके चारित्र्य और उपदेशोने अब उसको इस योग्य बनाया है कि वह उन कृत्योंका बोझ अपने कन्धो पर ले जो पितृगृहमे रहकर नही उठाये जा सकते । कन्यादानमे पिता उसको उस पुरुषसे मिलाता है जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो धर्म्मपथ पर उसका साथी होगा, जो भार एकसे नही उठ सकता उसको दोनो मिलकर उठायेंगे । उपनयनके समय वरका दूसरा जन्म हुआ था । उसने सहज सरल पथको, उस स्वार्थमूलक पथको जिस पर पशु भी चल सकता है, छोड़कर धर्म्ममय, उत्सर्गमूलक जीवन बितानेका व्रत लिया था । उसी प्रकार कन्यादान कन्याकी दीक्षा है । वह भी अबसे इस कँटीले मार्गकी व्रती बनती है ।

कन्यादानका यही महत्त्व है । यह बड़े दु:खकी बात है कि समाजने इसे भुला दिया है । जो लोग गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने जा रहे है उनको इस कदमके उठानेकी गुरुताका बोध नही कराया जाता और वह बिना यह समझे हुए कि कितने बड़े दायित्वका बीड़ा उठाने जा रहे है विवाहको हँसी खेल मान बैठते हैं ।

विवाहकी पद्धति कन्यादान पर समाप्त नही हो सकती। कन्याके पिताने वरसे प्रार्थना की कि वह कन्याको स्वीकार करे ताकि दोनों मिलकर गृहस्थधर्म्मको प्रशस्त करे और वरने अपनी स्वीकृति दे दी। पर इतना ही पर्याप्त नही है। जब दो व्यक्तियोंको मिलकर कोई काम करना है तो दोनोकी स्वीकृति होनी चाहिए। सारे जीवनका सौदा है। जब दो प्राणी एक साथ रहेगे तो दोनोको एक दूसरेका लिहाज़ करना होगा। एकको दूसरेके व्यक्तित्वका आदर करना होगा, दोनोको नियत सीमाके भीतर स्वतन्त्रता मिलनी होगी। स्वेच्छाचारिता बुरी चीज़ है परन्तु पराधीनता भी उतनी ही बुरी चीज है। **सर्वंपरवशं दुखम्** ! जिन शर्तो पर पतिपत्नीको साथ रहना है उनकी व्यवस्था पाणिग्रहणमे की गई है। दोनों ओरसे वचन प्रतिवचन होते है ताकि आगे चलकर स्नेहका धागा टूट न जाय। वर कन्यासे कहता है **ध्रुवं पश्य**—ध्रुवको देखो। ध्रुव उनके निश्चल, अटल प्रेमका प्रतीक है। कन्या अश्म—पत्थर—पर खडी होती है। यह पत्थर यह पुकारकर कहता है कि इनका सम्बन्ध पुरातन पहाडोंके समान दृढ़ और स्थिर रहेगा। कन्या वरके साथ दासीके रूपमें नही जाती। वह उसके बराबर पद रखती है। उसकी अनुचरा नही, सहकर्म्मिणी है, वर पत्नी कहते हैं:

> **समञ्जन्तु विश्वे देवाः, समानो हृदयानि नौ ।**
> **सं मातरिश्वासं धाता, समु देष्ट्री दधातु नौ ।। (सूर्य्याविवाह प्रकरण, ऋ० १०-८५-४७)**

विश्वेदेव और अप अभिमानी देवता हम दोनोंके हृदयोको सब विषयोंमे प्रकाशयुक्त करे। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री (सरस्वती) हम दोनोकी बुद्धियोंको परस्परानुकूला बनायें—

आपसके समझौतेके साक्षी देवगण होते हैं। अन्तमें सप्तपदी आती है। अग्निदेव, जिनकी वैदिक उपाधि ही व्रतपति है, वरकन्याके नवस्थापित

सम्बन्धको अपनी मुद्रासे अंकित करके उनको पतिपत्नी बना देते है। हमारा आदर्श यह है कि इस सम्बन्धको मृत्यु भी नही तोड सकती।

सारे कृत्यके अन्तमे उपस्थित लोगोसे प्रार्थनाकी जाती है कि दम्पतीको आशीर्वाद दें। जो शब्द सूर्य्याके विवाहके अवसरपर उच्चरित हुए थे वही आज भी पढ़े जाते है :

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन ।।

यह वधू सुमंगली—मंगलमयी है, इसको सब लोग साथ देखे और इसको सौभाग्य देकर अपने अपने घर लौट जायं—

देवो और मनुष्योके सामने, दोनोका आशीर्वाद पाकर, विवाहसम्पन्न हुआ।

देवगण मनुष्योके अग्रज, बडे भाई, है। वह भी कभी मनुष्य थे। अपने उग्र तप और यज्ञसम्पादनके प्रसादसे आज जगत्का संचालन कर रहे है। अनिद्रभावसे वह मनुष्योके चरित्र देखते रहते है। पुण्यकर्म्मोको प्रोत्साहन देने, धर्म्ममार्गसे डिगते हुएको सहारा देने, विवेककी टिमटिमाती शिखाको स्नेहदानसे उद्दीप्त करनेमे वह अपनेको धन्य मानते है। वह दण्ड भी देते है परन्तु उसी प्रकार जैसे माता और गुरु दण्ड देते है। उस दण्डमे भी प्यार छिपा होता है। पितृगण हमारे पूर्वज है। वह चाहते है कि उनके वंशज सन्मार्गपर चलें, यशके भागी हों, पितरोकी कीर्तिका भी विस्तार करे। अधर्म्मी वंशजोंके कुकृत्य पितरोंको ही नीचे गिराते है। ऋषियोने हमको ऋत और सत्यकी, चतुर्वर्गको प्राप्त करनेकी, शिक्षा दी है। स्वभावत: उनकी यह इच्छा होगी कि उनका बताया मार्ग बन्द न हो जाय। ज्ञानकी जो दीपशिखा उन्होंने प्रज्वलित की थी वह बुझने न पाये। जो मनुष्य अपने धर्म्मका अनुसरण करता है वह देवों, पितरों और ऋषियोको प्रसन्न करता है, उन्होने मानव समाज पर जो उपकार किये है उनको दूसरोतक पहुँचाकर उनसे उऋण होता है। ईश्वर सत्य, शिव

और सुन्दर है, प्रेम और आनन्दस्वरूप है। इसीलिए कन्यादानका प्राचीन सकल्प कहता है कन्या वरको 'धर्म्मप्रजा सम्पत्त्यर्थं', यज्ञापत्त्यर्थं' के साथ साथ 'ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं'' दी जाती है। कन्यासे धर्म्मप्रजाकी सम्पत्ति और यज्ञका सम्पादन होता है और इससे ईश्वर, देव, ऋषि और पितृ तृप्त होते है।

कहाँ यह उत्तुग मेरु शिखर और कहाँ वर्तमान काल! कितना पतन हुआ है। हिन्दू समाजके मर्मस्थानोको जैसे विपशलाका भेदन कर गई है, ऊँचे आदर्शो तक आँख उठानेकी हममे क्षमता नही रह गई। पिछले एक हजार वर्षोकी राजनीतिक दासताका यह कड़ुवा फल है। यही आश्चर्यकी बात है कि कुछ अवशेष रह गये है, जिनके सहारे हम फिर प्राचीन युगकी खोई बातोका पता लगा सकते है।

कन्यादान सम्बन्धी जो दुर्व्यवस्था हुई है उसका मुख्य कारण मेरी समझ मे दान शब्दका प्रयोग है। प्राचीन आचार्योसे यह भूल हो गई। कभी कभी ऐसी भूलोका बुरा परिणाम होता है। विज्ञान और दर्शनमे तो इसके उदाहरण भरे पड़े है। एक ही निदर्शन अलम् है। कभी किसीने प्राण के लिए वायु शब्दका प्रयोग कर दिया। कुछ ऊपरी साम्य देखकर ही यह भूल हो गई। बस, फिर उस भूलको सुधारना तो दूर रहा, जो आया ईट पर ईट रखता गया। पाण्डित्यपूर्ण मूर्खतासे पुस्तकालय भर गये। नाडियोमे छिद्र ढूढे गये, हवा भर कर कपाल फोड़नेवाले योगियोकी कहानियाँ सुनी जाने लगी। कहाँ वह दिव्य शक्ति जो भौतिक और आध्यात्मिक अनेक रूपोसे शरीरका संचालन कर रही है, जो रसायन, भौतिक विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान और मनोविज्ञानका विषय है और इन सबसे बाहर है, और कहाँ क्षुद्र हवा जो भूस्तत्वका एक भेद है! ऐसी ही भूल दानके विषयमे भी हुई होगी। उस भूलका फल हम सब भोग रहे हैं। इतना ही नही, वट वृक्षके समान भूलका कलेवर बढ़ता ही गया है।

दान शब्दका व्यवहार प्राय: उस प्रसंगमे किया जाता है जहाँ

किसीके कष्ट निवारणार्थ उसे कुछ दिया जाता है। अन्न, वस्त्र, भूमिका दान होता है, विद्यादान और अभयदान किया जाता है। किसी बराबरवाले मित्रको कुछ देना भले ही दान कहलाये परन्तु साधारणत व्यवहार वही है जिसकी ओर मैंने संकेत किया है। ऐसा दान शुद्ध निष्काम भावसे ईश्वरार्पण करके दिया जा सकता है परन्तु बहुधा दान सकाम ही होता है। यह नही कि देनेवाले दान पानेवालेसे प्रत्युपकारकी आशा रखते है परन्तु यह विश्वास रहता है कि कभी न कभी, कही न कही, किसी न किसी रूपमे, इस सत्कर्मका पुरस्कार मिलेगा। कर्म्मका सत्यसिद्धान्त कहिये, ईश्वर कहिये, नियति कहिये, कोई ऐसी शक्ति है जो भले बुरे कामोका लेखा रखती है।

यदि कन्याका दान हो सकता है तो इस दानसे दाताको लाभ होना चाहिए। इस जन्ममे और इस शरीरसे तो कोई प्रत्यक्ष लाभ होता नही। अत पुण्यका सचय होता होगा। जब कर्ता दान करता है तो उसे पुण्य पर दृष्टि रखनेका अधिकार तो है ही, न रक्खे यह उसकी उदारता होगी। बार बार कन्यादानकी महिमा जताई गई है, कन्याका विवाह न करनेके पापकी ओर सकेत किया गया है, इससे यह तो प्रतीत होता ही है कि काम बड़ा है। इससे पुण्य भी बडा होगा। अत॰ दाताके बीस-पचीस कुटुम्बी उस पुण्यमे भाग पा जायँ तो अनुचित न होगा।

तर्ककी यह धारा ज्यो ज्यो आगे बढ़ी बुद्धि पीछे छूटती गई। केवल एक झीनीसी रेखा रह गई। सप्तपदीके पहिले वरके मर जाने पर कन्याके फिरसे व्याहे जानेकी अनुमति बच रही। लड़कीके घरका पानी पीना त्याज्य हो गया। जिस प्रकार भूमि या गऊ या कोई और दान पाकर ब्राह्मण दक्षिणा पाता है उसी प्रकार कन्यादानके बाद वरको भी दक्षिणा मिलने लगी। यह कोई नही देखता कि कन्यादानके इस रूपका शेष पद्धतिसे कहाँतक सामंजस्य है। अपने स्वार्थके लिए मनुष्यका दान करना मानवताकी मर्य्यादासे नीचे गिरना है। मनुष्यको पशुपक्षीकी भाति देय वस्तु समझना पाप है। विवाहको वरवधू और उनकी सन्ततिके हितका साधन

न मानकर अपने हितका साधन मानना अनार्य्य है । संस्कार धर्म्मके विकास और प्रसारके लिए, नररूपी नारायणकी सेवाके लिए किये जाते है, कर्ताके निकृष्ट स्वार्थकी सिद्धिके लिए नही । परन्तु इन बातोको कोई सोचता नही । मूर्ख और पण्डित सब आँख बन्द करके लकीर पीटते चले जा रहे हैं ।

एक गऊ कई ब्राह्मणोमें तो नही बाँटी जा सकती परन्तु कई मनुष्य मिल कर एक गऊका दान कर सकते है । कुम्भस्नान और ग्रहणके अवसर पर तीर्थस्थानोंमे यह दृश्य बराबर देख पडता है । ब्राह्मण गऊ लिये खडा रहता है । लोग उसकी पूँछ पकड़कर दान देते जाते है । सबको पुण्य मिलता ही होगा । इसी प्रकार एक एक कन्याका कभी कभी बीसो स्त्री-पुरुष दान करते है । मानना चाहिए कि सबके ही हाथ कुछ पुण्य लग रहता होगा ।

मै किसीकी श्रद्धाका उपहास नही करना चाहता परन्तु यह कहना चाहता हूँ कि इस श्रद्धाके लिए शास्त्रीय आधार नहीं है । पिछले एक सहस्र वर्ष हमारे लिए बुरे बीते है । राजनीतिक दासता जीवनको कृत्रिम बना देती है । स्त्रियोंको इस कालमे प्रकृत्या संकुचित होकर रहना पड़ा है, उनके व्यक्तित्वके प्रस्फुटित होनेके अवसर कम मिले हैं । अतः समाजमे उनका स्तर गिरता गया । हम एक अवतरण पहिले दे चुके हैं जिसके अनुसार कन्याको गउओं, बैलों और घोड़ोसे बदला जा सकता है। एक अन्य स्मृतिमे कन्या, जूता और छाताके दानका एक ही जगह उल्लेख किया गया है । यदि स्मृतिकार महोदयकी दृष्टिमें स्त्रियोंका आदर होता तो वह दूसरे श्लोककी रचना करते पर कन्याको इतना नीचे न गिराते ।

अब इन बातों पर विचार करनेका समय आ गया है। हमारे धर्म्मकृत्यो और संस्कारोंमें बहुतसा प्रक्षिप्तांश मिल गया है, उसको निकालकर दूर फेंकना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे आदर्श और उनके दार्शनिक आधार प्राचीन परन्तु इसके साथ ही चिरनवीन है। उनमे स्फूर्ति देनेकी अद्भुत शक्ति है, उनके शुद्ध रूपका अवलम्बन करना हमारे लिए कल्याणकारी होगा ।

आधार पुस्तकोंकी सूची

गृह्यसूत्र

१. मानव गृह्यसूत्र, अष्टवक्रभाषासमेत
२. जैमिनि गृह्यसूत्र, श्रीनिवासी अध्वरिन् भाष्यसमेत
३. वाराह गृह्यसूत्र, गंगाधर और वशिष्ठ पद्धतियोंसमेत
४. पारस्कर गृह्यसूत्र, हरिहर, कर्क, जयराम, गदाधर और विश्वनाथके भाष्योंसमेत
५. लौगाक्षि गृह्यसूत्र, देवपाल भाष्यसमेत
६. द्राह्यायण गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्द वृत्ति समेत
७. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हरदत्त और सुदर्शनार्य्य भाष्यसमेत
८. आश्वलायन गृह्यसूत्र, हरदत्त मिश्रकी अनाविल वृत्तिसमेत
९. कौषीतक गृह्यसूत्र, भवत्रात विवरणसमेत
१०. अग्निवेश्य गृह्यसूत्र
११. गोभिल गृह्यसूत्र
१२. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
१३. खादिर गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्द भाष्यसमेत
१४. बोधायनीय गृह्यसूत्र
१५. वैखानस गृह्यसूत्र
१६. साङ्ख्यायन गृह्यसूत्र संग्रह, वासुदेव विद्वद्वर विरचित

धर्म्मसूत्र

१. गौतम धर्म्मसूत्र, हरदत्तकी मिताक्षरा वृत्तिसमेत
२. बोधायन धर्म्मसूत्र, गोविन्दस्वामी विवरणसमेत
३. वाशिष्ठ धर्म्मसूत्र

स्मृति

१. बृहस्पति स्मृति
२. सम्वर्त स्मृति
३. वशिष्ठ स्मृति
४. पराशर स्मृति, माधव भाष्यसमेत
५ यमस्मृति
६. मनुस्मृति, कुल्लूकभट्ट भाष्यसमेत
७. याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा टीकासमेत
८ नारद स्मृति

फुटकर

१. संस्कार गणपति, रामकृष्णकृत
२. कृत्यकल्पतरु, भट्ट लक्ष्मीधरकृत
३. वीरमित्रोदय, मित्रमिश्रकृत
४. दानक्रियाकौमुदी, गोविन्दानन्दकृत
५. हेमाद्रि दान खण्ड
६. संस्कारपद्धति, भास्कर अभ्यंकरकृत
७. संस्कार विधि, स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत
८. हिन्दू किन्शिप, क० म० कपाडियाकृत
९. दि पोजिशन आव विमेन
इन हिन्दू सिविलिज़ेशन, डा० आल्टेकरकृत
१०. ए शार्ट हिस्टरी आव विमेन, जे० एल० डेयर्सकृत
११. एंशेण्ट ला, मेनकृत
१२. हिन्दू परिवारकी मीमांसा, हरिदत्त वेदालंकारकृत